
प्रथम सस्करण १९९७ ई, वि स २०५४, वीर स २५२३

सम्पादक
शान्ति चन्द्र मेहता
'महत्ता सदन' ए–४ कुभानगर, चित्तौडगढ (राज)

प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ
बीकानेर– ३३४००५

मूल्य 15/–

लेजर टाईप सेटिग
अमित कम्प्यूटर्स, बीकानेर

मुद्रक
साखला प्रिन्टर्स, बीकानेर

प्रकाशकीय

जैन श्रमण सस्कृति में साधुमार्गीय हुक्मेश सघ का विशिष्ट एव महत्वपूर्ण स्थान है। महान् क्रियोद्धारक आद्य आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म सा द्वारा सस्थापित इस धर्म सघ के प्रभावक आचार्यो मे श्री श्रीलालजी म सा , ज्योर्तिधर श्रीमद् जवाहराचार्य, श्री गणेशीलालजी म सा एव वर्तमान शासन नायक समता दर्शन प्रणेता, धर्मपाल प्रतिबोधक, जिनशासन प्रद्योतक, अध्यात्म योगी, प्रात स्मरणीय परम पूज्य आचार्य–प्रवर श्री १००८ श्री नानालालजी म सा की अहम् भूमिका से वर्तमान भौतिक युग मे भी यह आदर्श सघ रूप मे मान्य व समादृत है। श्री श्रीलालजी म सा ने साधना, तपाराधना एव सारल्य की त्रिवेणी प्रवाहित की तो श्रीमद् जवाहर ने आत्मधर्म को राष्ट्रधर्म से जोड़कर धर्म व शासन को नव आयाम प्रदान किये उनके विचार परिवर्तित जीवन मूल्यो के युग मे भी प्रासगिक व जीवन–उन्नायक हैं तथा इन्हे कालजयी कहे तो कोई अतिशयोक्ति नहीं।

इसी क्रम मे शात क्राति के अग्रदूत श्रीमद् गणेशाचार्य ने श्रमणाचार को साधना का मूल माना व श्रमण–सस्कृति के सजग प्रहरी रूप मे दृढता व आत्म साधना को जीवन पाथेय बताया। उनके शिष्य आचार्य श्री नानेश ने समता–दर्शन का विशेष सूत्र देकर समतामय समाज निर्माण का पथ प्रशस्त किया व लाखो बलाई जाति सज्ञक भाई–बहिनो को प्रतिबोधित कर व्यसनमुक्ति की राह दिखाते हुए उन्हे 'धर्मपाल' नाम से अभिहित कर मानव–इतिहास मे यथार्थ सामाजिक क्रान्ति का स्वर्णिम पृष्ठ सृजित किया है। आप द्वारा मनोनीत भावी पट्टधर शास्त्रज्ञ, प्रशान्तमना, तपस्वी, आगम रहस्यवेता युवाचार्य प्रवर श्री रामलाल जी म सा ने भी सस्कार क्रान्ति, सदाचार, शाकाहार का युगीन सन्देश दिया है जो स्तुत्य व श्लाघनीय है।

आचार्य श्री नानेश ने चिन्तन के इतिहास को नवीन दिशा प्रदान की है। आपमें शाश्वत सत्य व जीवन मूल्यो को युग चेतना से सम्पृक्त करने की अप्रतिम क्षमता है। आपमे अनुभूति की विशिष्ट शक्ति ही नहीं अभिव्यक्ति की गहनता भी है। जटिल व गूढ़ शास्त्रीय तत्वो व बौद्धिक मणि–मुक्ताओ को सुबोध भाषा में गुफित कर प्रस्तुत करने से वे जन–जन को उन्नयन करने मे समर्थ हैं। ये पारम्परिक सिद्धान्तो व जिनवाणी के प्रतीक व सरसता से ओतप्रोत तो हैं ही, किसी लीक व परिपाटी से मुक्त भी ।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे आचार्य देव द्वारा नोखा वर्षावास (स २०३३) मे प्रदत्त अठारह प्रवचन सकलित किये गये हैं, जिनका केन्द्रीय व मूल स्वर है–"**अपने को समझे**"। वस्तुत आज की भोगवादी सस्कृति व पाश्चात्य सस्कृति के कारण मानव बहिर्मुखी हो

गया है। वह 'स्व' से न जुड़कर 'पर' से ग्रसित है। चूकि स्व से जुड़े बिना भेद-अभेद की अनुभूति नही हो पाती और हमारी बुद्धि इन्द्रिय-भोग से हटकर विवेक की ओर अभिमुख नहीं हो पाती अत न आत्म ज्ञान होता है और न आत्म साक्षात्कार ही। हम बर्हिमुखी दृष्टि त्याग कर अन्तर्मुखी हो जाय तो भीतर का प्रकाश स्वत जागृत होकर आत्म ज्योति प्रज्वलित हो उठेगी। नोखा-प्रवचन के इस भाग मे १८ प्रवचन सग्रहीत हैं जो दिनाक १५ सितम्बर १९७६ से ५ अक्टूबर १९७६ तक दिये गये थे व स्व श्री मूलचन्दजी पारख (हिगुणीया वाला) की स्मृति मे उनके पुत्रो के अर्थ सौजन्य से प्रकाशित किये जा रहे हैं। सघ इन्हे साधुवाद ज्ञापित करता है। इनमे सेवा, पुरुषार्थ, आत्मिक तत्त्व, आत्मा का प्रेम, कुरीति निवारण, मानसिक रोग, धर्म और विज्ञान का समन्वय, आत्म समाधि, कर्मबन्ध-उदय-क्षयोपशम आदि विषय समाविष्ठ हैं।

इन प्रवचनो का सार यही है कि मानव अपनी आत्म चेतना का परम विकास कर स्वय परमात्म रूप प्राप्त कर सके। इसका मूलाधार यही है कि जैन साधना के केन्द्र मे कोई देवी–देवता न होकर स्वय मानव हैं, जो पुरुषार्थ-पराक्रम का "अप्पा से परमप्पा" तक ऊर्ध्वगामी हो सकता है। आवश्यकता है कि वह अपनी बाह्य दृष्टि त्याग कर एक को अर्थात् अपने को समझे व जाने। विडम्बना यह है कि सुख का अजस्र स्रोत हमारी आत्मा मे विद्यमान है जबकि हम बाहर अटक कर भटक रहे हैं–सुखाभास के साधनो मे। यह बाहर और भीतर की भेद मूलक दीवारे ध्वस्त होना ही साधना का सार है, जैसा कि कहा गया है–

जे एग जाणइ, से सव्व जाणइ।
जे सव्व जाणइ, से एग जाणइ। आचा० ३/४

अर्थात् जो एक को जानता है वही सबको जान सकता है और जो सबको जानता है वही एक को (अपने को) जान सकता है।

इसी को अन्य शब्दो मे कहा गया है–

जे अज्झत्थ जाणइ, से बहिया जाणइ।
जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थ जाणइ।

अर्थात् जो अन्दर को जानता है वही बाहर को जान सकता है और जो बाहर को जानता है वही अन्दर को जान सकता है। अत जीवन की जीवन्तता, जागृति, शक्ति और प्राणवक्ता को बनाये रखने के लिए अपेक्षित है कि हम इस मन व इन्द्रियो के वशीभूत न रहें व स्वय अपने भीतर प्रवेश कर 'अपने को समझें'।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे आचार्य भगवन् के भावो को पूर्णत आत्मसात करते हुए इनको

सम्पादित किया है श्रीमान् शातिचन्द्र जी मेहता ने, जो हार्दिक आभार के अधिकारी हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन मे श्री उदय नागोरी ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है, अत हम उनके आभारी हैं।

लेजर टाईप सेटिंग—अमित कम्प्यूटर्स द्वारा अत्यल्प समय मे तत्परता से करने हेतु हम उनके प्रति आभार ज्ञापित करते हैं।

पूरा विश्वास है कि पाठक, स्वाध्यायी व श्रद्धालुजन इन प्रवचनों को हृदयगम कर आत्म चितन व अन्तरावलोकन कर सकेगे।

भवदीय

गुमानमल चौरड़िया अध्यक्ष	सागरमल चपलोत महामत्री	पीरदान पारख सयोजक
इन्द्रचन्द बैद सह सयोजक	भवरलाल कोठारी उपाध्यक्ष	चम्पालाल डागा उपाध्यक्ष
सरदारमल काकरिया	केशरीचन्द सेठिया	मोहनलाल मूथा
नेमीचन्द तातेड़	कमल सिपानी	सायरचन्द छल्लानी

सदस्यगण, साहित्य समिति श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ

अर्थ सहयोगी परिचय

नोखा प्रवचन भाग प्रथम—'अपने को समझें' का प्रकाशन धर्म/सघ समर्पित, सरलमना, आचार्य श्री नानेश के अनन्य श्रद्धानिष्ठ सुश्रावक स्व श्री मूलचन्दजी पारख (हिगुणिया वाला) की स्मृति मे उनके सुपुत्रो (सर्व श्री मोहनलालजी, सूरजमलजी, हीरालाल जी, महावीरचन्द जी, सुभाषचन्द्र जी एव गौतमचन्द जी) के अर्थ सौजन्य से हो रहा है। श्रीमान् मूलचन्दजी के पाच पुत्रिया हैं, जिनमे से एक ने नानेश सघ में दीक्षा अगीकृत की है और विदुषी महासती श्री सुदर्शना श्री जी म सा के नाम से सुज्ञात है। आप परम पूज्य आचार्य श्री नानेश व युवाचार्य श्री रामेश के शासन मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप की आराधना कर जिन शासन को दैदिप्यमान कर रही है और हुक्म सघ की अभूतपूर्व जाहोजलाली कर आपने बेजोड़ आदर्श स्थापित किया है।

श्री मूलचन्दजी पारख सम्वत् २००५ मे नागौर जिले के हिगुणिया गाव से आकर नोखामडी मे बसे थे। ये २ भाई और ४ बहिने थीं। इनके अग्रज स्वर्गीय श्री तोलाराम जी पारख के ९ पुत्र—सर्व श्री जुगराज जी पारख व २ पुत्रिया हैं।

स्वर्गीय श्री मूलचन्द जी सा पारख को धार्मिक सस्कार अपनी पू माताजी जड़ावदेवी से वसीयत रूप मे मिले। सुश्राविका जड़ावदेवी का साधु साध्वियो के प्रति अत्यन्त लगाव था। वह सामायिक-साधना, व्रत-पच्चखाण में सदैव अग्रसर रहती थी। उनका जीवन धार्मिक सस्कारो से ओत-प्रोत था उन्हीं से प्रेरणा पाकर इनका परिवार फला फूला एव धार्मिक कार्यों मे रुचि लेने लगा। इसी का परिणाम था कि आपने अपनी सुपुत्री सुवा कुमारी की दीक्षा हेतु सहर्ष स्वीकृति प्रदान की।

श्री मूलचन्द जी सा पारख (हिगुणिया वाला) का जीवन बहुत ही सघर्षपूर्ण रहा है आपने सरलता सादगीमय जीवन व्यतीत करते हुए धर्माचरण को हमेशा प्राथमिकता दी व जिनशासन की सेवा मे सुपुत्री रत्ना को आचार्य श्री जी के चरणो मे भेट कर उदारता का परिचय दिया। आपके सुपुत्र भी परिश्रमपूर्वक अपने व्यवसाय को नोखा,करीमगज, सिलचर, सूरत तक फैला कर सफलता की ऊचाइयो को छूते हुए भी धर्माचरण मे भी अग्रणी हैं। आप के बड़े पुत्र श्री मोहनलाल पारख वर्तमान मे श्री साधुमार्गी जैन श्रावक सघ, नोखामडी के मत्री पद पर आसीन अपनी सेवाए सघ को प्रदान कर रहे हैं व साथ ही अ भा साधुमार्गी जैन सघ, बीकानेर के वर्षों से कार्यकारिणी के सदस्य भी हैं।

परम श्रद्धेय पूज्य आचार्य श्री १००८ श्री नानालालजी म सा के स २०३३ का वर्षावास नोखामडी मे प्रारम्भ होने जा रहा था। उस समय नोखा मडी के ही सुश्रावक श्री

मूलचन्द जी सा पारख (सुपुत्र श्री आसकरण जी) हिगुणिया वाला ने अपनी सुपुत्री सुश्री सुवा कुमारी जिसकी वैराग्य भावना कई वर्षों से शा प्र कर्मठ सेवाभाविनी महासतीजी श्री चादकवर जी म सा की प्रेरणा से चल रही थी को श्री साधुमार्गी जैन श्रावक सघ के निवेदन को बहुमान देकर पू आचार्य भगवन् के मुखारविन्द से नोखामडी मे दीक्षा सम्पन्न कराने की स्वीकृति प्रदान की। २ जुलाई १९७६ को अत्यन्त उत्साहवर्धक वातावरण में वैराग्यवती बहिन की दीक्षा अपूर्व धूमधाम से सम्पन्न हुई।

विदुषी महासतीजी श्री सुदर्शना श्री जी म सा की ससारपक्षीय पूज्य माताजी श्रीमती सिरेकवर जी दृढधर्मी, आचार्य भगवन्, युवाचार्य भगवन् के शासन की समर्पित श्राविका है। इनकी प्रेरणा से ही सभी पुत्र एव पुत्रिया धर्म ध्यान, तप त्याग आदि क्रियाओ मे सक्रिय भागीदारी निभाते हैं। श्रीमती सिरे कवर के बडे ससार पक्षीय भ्राता आचार्य भगवन् के शासन को दीपाने वाले घोर तपस्वी अनेक थोकड़ो के ज्ञाता श्री मूलचन्दजी म सा हैं जिनका इस वर्ष वर्षावास बीकानेर मे है।

महासती श्री सुदर्शना श्री जी म सा आचार्य भगवन् एव युवाचार्य भगवन् मे अटूट श्रद्धा सयम साधना से शासन प्रभावना मे अग्रसर हैं। आपने जहा जहा विचरण किया व कर रही हैं वहीं पर अपने सयमी जीवन व ज्ञान प्रभावना की अमिट व विशेष छाप छोड़ी है। पू आचार्य भगवन् अपने मुखारविन्द से फरमाते हैं इनको मैं जहा भी भेजता हू वहा की श्रावक श्राविकाए इनकी तारीफो के पुल बाध देते हैं। धन्य हैं इनका सयमी जीवन सादगी मय जीवन। सम्प्रति आपका वर्षावास देई (बून्दी) मे है। नोखा प्रवचनो का प्रथम भाग आपके अर्थ सहयोग से प्रकाशित कर सुधी पाठको के हाथो प्रस्तुत कर रहे हैं। पूर्ण विश्वास है कि नोखा वर्षावास मे प्रदत्त ये प्रवचन आत्मा का ऊर्ध्वारोहण करने मे सार्थक सिद्ध होगे क्योकि ये आत्मोत्थान की प्रेरणा से ओतप्रोत है। मानव अपने को समझे और स्वय से जुड़े यही इनका केन्द्रीय संदेश है। आचार्य भगवन् के सूत्र शब्दो को जीवन मे उतार कर भव्य प्राणी अपना उत्थान करें यही शुभकामना है।

अर्थ सहयोगी पारख बन्धुओ के प्रति आभार के साथ।

—धनराज बेताला

अनुक्रमणिका

1

कर्मों का बन्ध, उदय और क्षयोपशम

जीव रे तू पार्श्व जिनेश्वर वन्द।
अश्वसेन नृप कुलतिलो रे, वामा दे नो नन्द।
चिन्तामणि चित्त में बसे रे, दूर टले दुख द्वन्द ।।
जड चेतन मिश्रित पणे रे, करम शुभाशुभथाय।
ते विभ्रम जग कल्पना रे, आतम अनुभव न्याय।।

कवि ने इस प्रार्थना में जीव को सम्बोधन दिया है और भगवान् पार्श्वनाथ को वन्दन करने का स्पष्ट निर्देश देते हुए कहा है कि तू पार्श्व जिनेश्वर को वन्दन कर, परन्तु वह वन्दन शरीर तक ही सीमित न रहे या केवल वचनो के उच्चारण की ही पूर्ति न हो, बल्कि मन तक पहुचे। शरीर का वन्दन दो हाथ, दो घुटनो और सिर के माध्यम से पचाग नमस्कार होता है। केवल ऐसा वन्दन विशेष परिपूर्ण फल देने वाला नही बनता। इस वन्दन की प्रक्रिया वाणी के द्वारा भी उच्चरित हो सकती है, इसलिये वचन की दृष्टि से 'मत्थेण वन्दामि' कहें। लेकिन यह उच्चारण भी अन्दर की श्रद्धा के साथ होना चाहिए। भीतरी मन मे यदि वन्दन करने वाले की प्रगाढ श्रद्धा है और श्रद्धापूर्वक वह नमन कर रहा है तो वह अपने जीवन में महान् फल की आशा रख सकता है।

मन, वचन और काया

कवि ने तो फल का कुछ निर्देश भी दे दिया और कह दिया कि यदि तू चिन्तामणि पार्श्व को चित्त मे बसा लेगा तो तेरे जीवन के सारे दु:ख और द्वन्दों का नाश हो जायगा और तुझे सुख की उपलब्धि हो जायेगी। यह सम्बोधन कवि ने जीव को दिया है। क्या यहाँ कोई जीव है ? आप कहेंगे कि सभी जीव हैं तो

इस सम्बोधन को आप ग्रहण करे। मिटाने हैं आपको अपने दु ख और द्वन्द और प्राप्त करना है सुख ? तो इस तरह वन्दन करना सीखिये कि मन, वचन, काया–तीनो नमे। तीनो का एकात्म भाव वन्दन के माध्यम से परमात्म स्वरूप में रम जाय। वन्दर बाहर का ही नहीं, वन्दन भीतर का भी बने। वन्दन के भाव और द्रव्य रूप समन्वित बन जाय।

वन्दन के इस स्वरुप एव उसके फल के विषय मे जब चिन्तक व्यक्ति चिन्तन करता है तो उसके मन मे दो तरह के विचार उठते हैं। एक तो यह कि वह मन की स्थिति को सुदृढ बनावे तथा मन में शुभता पैदा करे। दूसरा विचार यह कि वह सिर्फ वचन और वाणी को शुभ रखे। किन्तु वह अपने चिन्तन में निर्णय लेगा कि ये दोनो विचार पृथक् पृथक् नहीं हैं – दोनो विचारों में समन्वय स्थापित किया जाना चाहिये। कुछ व्यक्ति वाणी और शरीर को अलग कर लेते हैं और मन की स्थिति को भी विभिन्न रूप में वाणी व शरीर से अलग मान लेते हैं। लेकिन ये तीनो तत्त्व अलग-अलग नही है। इनका वर्गीकरण चाहे क्रिया और वचन के साथ किया जाय और मन को स्वतत्र रखा जाय, परन्तु मन की शक्ति जुटने पर ही दोनो काम करते हैं और दोनो की उपस्थिति में ही मन सक्रिय बनता है। वस्तुत जो कुछ भी जीवन सबधी कार्य प्रारभ होता है, वह भीतर से होता है।

इस मानव जीवन का निर्माता प्रत्यक्ष मे यह शरीर दिखाई दे रहा है। इस शरीर को देखकर भी कइयों के मस्तिष्क मे प्रश्न उठा करते हैं कि इस शरीर की रचना कैसे हुई और क्यो हुई ? बाहरी प्रक्रिया और जनमानस के व्यवहार को देखते हैं तो अनुमान करते हैं कि इस प्रकार मनुष्य जन्म की अवस्था प्राप्त की। डॉक्टर लोग डॉक्टरी दृष्टि से अनुसधान करके शरीर के अलग-अलग अवयवों का विवरण देते हैं, लेकिन शरीर का वह महत्त्वपूर्ण भाग जिससे इस शरीर का निर्माण होता है, उनकी पकड मे नही आया है। यद्यपि डॉक्टर और वैज्ञानिक उसका अनुसधान करने मे सक्रिय है तथा डॉ खुराना की कुछ उपलब्धि भी दुनिया के सामने आई है, फिर भी उससे प्रश्न का परिपूर्ण समाधान नहीं आता। उन्होने यत्र के माध्यम से जो कुछ भी तत्त्व निर्मित किये, वे तत्त्व इस जीव की दशा के द्योतक हैं – ऐसा कहा जाता है। यह भी कहा जाता है कि इसमे कभी चैतन्य आत्मा जन्म लेकर अपनी सक्रिय अवस्था को प्रकट कर सकती है। यह प्रयोगशाला मे किया जाय अथवा कुदरती तौर पर गर्भावस्था मे जीवात्मा इस प्रक्रिया को चालू करे – कोई भी आत्मा सर्वथा कर्मो से रहित नही होती है।

जीवन मे जो भी शक्ति जीवात्मा की दिखाई देती हे, वह मन, वचन और काया की सम्मिलित शक्ति होती है। इस शक्ति का मूल स्रोत आत्मा में होता है एव आत्मा अनादिकाल से कर्मो से सलग्न बनकर ससार की विविध योनियों मे भ्रमण करती हुई चली आ रही है। अतिशय पुण्य के सयोग से जव आत्मा को

मानव जन्म मिलता है तो वह मानव शरीर मे आती है और इस रूप मे मन, वचन तथा काया की सम्मिलित शक्ति का सचालन करती है।

आत्मा का गति-क्रम कर्मो के चक्र मे

अनादिकाल से कर्म युक्त आत्मा कर्मो को साथ लेकर चल रही है और कर्मो के अधीन होकर पुन पुन जन्म ग्रहण कर रही है। एक स्थान पर जन्म लेती है और वहा का जीवन जीकर मरण को प्राप्त हो जाती है और इस तरह जन्म-मरण का चक्र चलता रहा है। आत्मा का यह गति क्रम कर्मो के चक्र मे पडने से चलता है। किन्तु जब भी विवेक से आत्मिक ज्ञान होता है और गहराई में उतरता है तो वह आत्मा समस्त बाहरी बन्धनों से मुक्त होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेती है। लेकिन मूल स्थिति मे जब तक विवेक शक्ति जागृत नहीं होती है, तब तक वह कर्म से शरीर और शरीर से कर्म-बीज, फल और फल से पुन फसल में घूमती रहती है। उसका गति क्रम से चक्र में चलता रहता है।

बाजरी का एक बीज जमीन मे बोया जाता है, एक पौधा उससे पनपता है, उस पर बाजरी के कई सिट्टे लग जाते हैं तो इस तरह एक दाने से बाजरी के कितने ही दाने पैदा हो जाते हैं और इन दानों से पूरी एक फसल ली जा सकती है। वैसे ही कर्म का बीज छोटा सा होता है, लेकिन फलते-फलते एक अकुर से पूरी फसल का रूप ले लेता है। जब फसल पकती है तो उसमें कर्म के कई बीजों की सलग्नता हो जाती है। बीज से फसल और फसल के बीजो से फिर फसल इस रूप में कर्मो का बन्ध तथा उदय चलता रहता है। इस शरीर की और इस जीवन की दशा भी इसी रूप मे चल रही है। इस निरन्तर चालू रहने वाली प्रक्रिया से मनुष्य हैरान हो रहा है और सोच रहा है कि क्या किया जाय ?

कभी-कभी मानव सोचता है कि मेरे पूर्व जन्म कर्मो का उदय आया तो उससे कर्मो का बोझ कम हुआ, फिर उदय आया तो और कम हुआ और इस तरह सारे कर्मो का नाश हो जाना चाहिये। फिर नवीन कर्म क्यो बधे – यह प्रश्न पैदा हो जाता है। लेकिन इसका सही समाधान नहीं लेते हैं कि पूर्व जन्म में बधे हुए कर्मो का उदय आया और उसको आपने सफल बना लिया याने कि पकी हुई फसल ले ली तो स्वाभाविक तौर से अनेक कर्म बधेगे और यदि फसल को पकने न देकर बीज की हालत में ही उसको हटा दिया जाय तो नये कर्म पैदा होगे और पूर्व कर्म नष्ट भी होगे। जैसे एक किसान ने बाजरी बोई। उसके पास जितनी बाजरी थी, सारी की सारी उसने खेत मे बो दी। उस बाजरी के बीज अकुरित हुए तो पहले की बाजरी के दाने तो नष्ट हो ही गये और नये आये नहीं, क्योकि

फसल को उसने बीच में ही काट दी। नतीजा क्या रहा कि पहले के बीज तो उसने बो कर नष्ट कर दिये और बोये गये बीज अकुरित तो हुए लेकिन उस फसल को पकने न देकर बीच मे ही काट दी जिससे उसको नये बीज नहीं मिले। यदि वह फसल को बीच मे नहीं काट पाता तो उसके नये कई गुना बीज मिल जाते।

वैसे ही कर्मो की दशा है। आपके मन मस्तिष्क पर पूर्व जन्म के कर्मो का उदय आने पर असर होता है। उस असर मे अगर आप बह गये और आपने सावधानी नहीं रखी तो पहले थोडे कर्म बधे हुए थे और अब नवीन कर्म अधिक बधेगे। कर्मो के इस चक्र मे आत्मा का गति-क्रम इस रूप में दयनीय होता चला जाता है।

कर्मो का बंधना और छूटना क्या अधिक है ?

कर्म दो तरह के होते हैं – शुभ और अशुभ। शुभ और अशुभ कर्मो का असर जीवों पर अनन्त योनियो के सम्बन्ध मे पडता है। अशुभ कर्म बध के साथ अशुभ योनि मिलती है तो शुभ कर्म बध से शुभ योनि। यहॉ पर जो हल्के कर्म करेगा, उसको अच्छी योनि मिलेगी। भारी कर्म करेगा तो उसको बुरी योनि मिलेगी। हल्के का तात्पर्य शुभता से है।

इस दृष्टिकोण से जीव का सिलसिला कर्मों की परिस्थिति के साथ चलता है और प्रतिक्षण यह आत्मा कर्म बधन करती है। एक भी क्षण नही जाता जिसमें कर्म बधन नहीं होता हो। कुल आठ प्रकार के कर्म होते हैं, जिनमे से सात कर्मो के बधन प्रति समय होते रहते हैं तथा आठवे कर्म आयुष्य का बध होता है तभी होता है। इन सात कर्मो के बध की स्थिति जैसे बधन के रूप होती है, वैसे ही वे नष्ट भी होते हैं – गिरते भी हैं। पूर्व कर्मो की अवधि आती है तब वे हटते हैं। अपने क्रम मे नवीन कर्म बधते चले जाते हैं।

जैसे आज आप देख रहे हैं कि जनसख्या बढ रही है या घट रही है ? पुराने मनुष्य तन को छोडकर जा रहे हैं और नवीन आ रहे हैं, बल्कि अधिक अनुपात में आ रहे हैं। भारत की जनसख्या पहले कितनी थी और अव कितनी हो गई है ? हालाकि कृत्रिम साधनों का उपयोग करने का भरसक प्रयत्न किया गया, फिर भी जनसख्या ६० करोड के नजदीक पहुँच गई होगी या थोडी कम ज्यादा होगी जिसकी सही जानकारी आगामी जनगणना से हो सकेगी।

जिस प्रकार यह स्थिति है, वैसे ही जीवन में कर्म बधते भी हैं और कर्म छूटते भी हैं। लेकिन छूटने की बनिस्बत बधते अधिक हैं। जव तक कर्मो का

उपशम अथवा क्षय करने का आत्मिक पुरुषार्थ नहीं किया जाता है, तब तक अधिक कर्मबधन के चक्र मे यह आत्मा ससार के प्रत्येक क्षेत्र में अधिकाधिक परिभ्रमण करती है। यह परिभ्रमण कब कम होगा या कि समाप्त होगा ? इसके लिये देखना यह है कि कर्मो के बधने और छूटने में कौनसी प्रक्रिया अधिक है ? यदि बधते कम और छूटते अधिक हैं तो समझे कि आत्मिक पुरुषार्थ फलीभूत हो रहा है तथा सपूर्ण कर्म क्षय का शुभ दिन दूर नही है। लेकिन बधते अधिक और छूटते कम हैं तो कर्मो की जमा प्रति समय बढती जा रही है। यह बढोतरी आत्मा के भार की बढोतरी है।

अनन्त आत्माओ के समूह तथा कर्मो का बध – क्षय

जैन शास्त्रों की दृष्टि से आत्माएँ अनन्त हैं। आप यहाँ पर कितने बैठे हैं – उसकी तो आप गिनती लगा लेगे कि मनुष्य शरीर मे कितनी आत्माएँ हैं ? मनुष्य शरीरो के अतिरिक्त इस पडाल मे कितनी अन्य आत्माएँ रही हुई हैं – उन आत्माओं को चमडे की आखें नहीं देख पा रही हैं, लेकिन ज्ञानियो के वचनो के आधार पर यह पडाल अनन्तानन्त आत्माओ से ठसाठस भरा हुआ है। कितना ठसाठस ? आपने काजल की डिबिया देखी होगी – जैसे उसमे काजल भरा हुआ रहता है, वैसे ही इस पडाल में ठसाठस आत्माएँ भरी हुई हैं। सारे ससार को काजल की डिबिया मान लें, जिसमें अनन्त आत्माओ के समूह रहे हुए हैं। कोई जन्म ले रही है, कोई मर रही है। एक शरीर को छोड कर आत्मा जाती है तो उस शरीर का मरण हो जाता है तथा चट दूसरे शरीर मे प्रवेश करती है तो उस शरीर मे जीवन आ जाता है।

आपके अनुभव मे आया होगा कि जब मौसम में पहली वर्षा दो तीन घटे तक जमकर हो जाती है तो थोडे ही समय मे मेढकों की आवाज सुनाई देती है। पहले एक भी मेंढक नहीं होता है और वर्षा होते ही इतने सारे मेंढक एकदम कहाँ से आ जाते हैं ? आकाश से तो गिरे नहीं। पृथ्वी का पानी से सयोग होते ही जब पृथ्वी इस योनि के जीवो के लिये योग्य बनी तो जिन आत्माओ का कर्म बधानुसार जैसे ही योग मिला, वे इस रूप मे आ गई समूर्छिम जीव भी पैदा हो जाते हैं। कभी कभी गर्भज आत्माएँ गर्भ मे पैदा होती हैं, उसकी भी प्रक्रिया आत्मा स्वय करती है। फल रूप मे जड और चेतन की मिश्रित अवस्था से ये शुभ अथवा अशुभ चीजे सामने आती हैं।

माता की कुक्षि में भी परिभ्रमण करती हुई यह आत्मा जन्म ले लेती है, लेकिन अनुकूल सामग्री नही मिलती है तो थोडी अवस्था मे ही समाप्त हो जाती

है। गर्भ मे आने वाली सभी आत्माएँ बाहर आएगी ही – ऐसा भी नियम नही है। जड चेतन के सयोग और वियोग से जन्म मरण का सिलसिला जुडता है, लेकिन जड कर्म भी जब आत्मा के साथ सलग्न होते हैं तो वे भी चैतन्य रूप बन जाते हैं। जब तक वे आत्मा से अलग रहते हैं तब तक जड कहलाते हैं। उस समय वे कार्मण वर्गणा की सज्ञा में होते है। ये कार्मण वर्गणा के पुद्‌गल आत्मा के साथ बधने से रूपी चैतन्य हो जाते हैं। चैतन्य और जड का सयोग होने से शरीर की सरचना होती है। शरीर जो जड था, चैतन्य के सयोग से रूपी चैतन्य हो जाता है।

एक जन्म मे तथा अनेक जन्मो मे शरीर और आत्मा का सयोग-वियोग-यह कर्मो के बध पर तदनुसार निर्भर करता है। जब तक कर्मों का बध है – जड चेतन का सयोग बना रहता है तथा ससार परिभ्रमण होता रहता है। कर्मों का सम्पूर्ण क्षय होने पर ही सयोग टूटता है तथा चैतन्य जडबध से मोक्ष पा जाता है।

यह गभीरता से समझने का विषय है कि यह जड चेतन का सयोग किस रूप मे कार्यकारी बनता है तथा इस सयोग से जो पहले जड होता है, वह चैतन्य रूप कैसे हो जाता है ?

जड-चेतन सयोग तथा जड-चेतन के रूप

बताइये कि जो दूध आप पीते हैं, वह जड है या चेतन ? क्या जड चेतन के रूप का आपको ख्याल है ? आप क्या हैं ? जड या चेतन ? सामान्य रूप से जिसमे आत्मा हो वह चेतन होता है और जिसमें आत्मा नहीं हो, वह जड है जिसको पुद्‌गल या अग्रेजी मे मेटर कहते हैं। दूध निर्जीव है या सजीव ? आप जानते हैं कि दूध साधु लोग लेते हैं और साधु सजीव वस्तु नहीं लेते इसलिये दूध जीव रहित होता है। दूध, रोटी आदि निर्जीव पदार्थ होते हैं। लेकिन इसी दूध और रोटी का जब उपभोग कर लेते हैं तो उसके बाद शरीर मे उनका रस बनता है – इस शरीर के सारे अवयवो मे व्याप्त हो जाता है तो वह सब रूपी आत्मा मे अथवा चेतन रूप मे परिवर्तित हो जाता है। इस त्वचा के सुई चुभोई जाय तो दर्द होता है क्योंकि उसमे चैतन्य होता है। जो रस सारे शरीर मे व्याप्त हो गया, वह जड होते हुए भी चैतन्य के ससर्ग मे चैतन्य बन जाता है।

कल्पना करे कि दूध एक बर्तन में पडा हुआ है, उसमे पानी डाल दे तो पानी का रूप भी दूध में परिवर्तित हो जायगा। कोई पूछेगा कि इस बर्तन मे क्या है तो यही कहा जायगा कि बर्तन मे दूध है लेकिन पानी मिला हुआ है। वैसे ही कार्मण वर्गणा के पुद्‌गल कर्म जड होते हैं लेकिन जब आत्मा के साथ चिपकते हैं तो चिपकने वाले सारे के सारे कर्म चैतन्य बन जाते हैं। वैसी कर्मयुक्त आत्मा

गर्भ में आकर स्थूल शरीर बनाती है। इसलिये कवि ने सकेत दिया है –

जड चेतन मिश्रित पणे रे, करम शुभा शुभ थाय।
ते विभ्रम जड कल्पना रे, आतम अनुभव न्याय।।

इस जड और चेतन की मिश्रित अवस्था को आप समझ गये होंगे। जहाँ पर चेतन उत्पन्न होता है, वह स्थान निर्जीव भी होता है और सजीव भी होता है। शास्त्रो में वर्णन आया है कि देवता देव शैय्या मे उत्पन्न होते हैं तो वे निर्जीव स्थान मे उत्पन्न होते हैं। देव शैय्या आपके पलग की तरह ही होती है, लेकिन उसमें विचित्रता होती है – उस पर सफेद चद्दर जैसा बिछा हुआ होता है। जो व्यक्ति मनुष्य लोक मे शुभ कर्म करता है याने कि अच्छी करणी करता है – धर्म का अनुसरण करता है, दान देता है, व्रतादि का पालन करता है, सयम आदि अगीकार करके चलता है तो उन शुभ कर्मो के शुभ फल के रूप में वह इस शरीर को छोडकर स्वर्ग मे जाता है। यह गदगी युक्त शरीर यहीं पर रह जाता है, सिर्फ कर्म सलग्न आत्मा निकल कर एक समय मे, दो समय मे तथा अधिक से अधिक तीन समय मे तथा एक आचार्य के मत से चार समय में देवलोक की शैय्या के स्थल पर पहुँच जाती है। जैसे अगारों पर रोटी फूलती है, वैसे ही उस आत्मा के पहुँचते ही देव शैय्या पर बिछी चादर फूल जाती है और उसमे से देवता प्रकट हो जाता है। देव योनि मे गभार्वस्था, बचपन या बुढापा नहीं होता – सदा यौवन रहता है। जैसे कोई सोकर चादर हटा देता है और उठ जाता है, वैसे ही देव शैय्या पर तरूण और कोमल शरीर उठकर बैठ जाता है।

इसी तरह से जड और चेतन की मिश्रित अवस्था से आत्माएँ अपने अपने कर्म बध याने आयुष्य के अनुसार अलग-अलग योनियो में पैदा होती हैं।

कर्म बध की प्रक्रिया तथा उनके उदय मे आने की स्थिति

जब आत्मा एक योनि से दूसरी योनि में जाती है तो शुभ और अशुभ कर्म जो उसके साथ सलग्न होते हैं उसके साथ जाते हैं। कर्म आत्मा के साथ किस प्रकार चिपक जाते हैं – इसका अनुमान इस उदाहरण से लग सकता है कि बडा (पकौडा) कैसे बनता है ? पिसी हुई दाल या बेसन का लौंदा बनकार जब कडाही के गरम-गरम तेल मे छोडा जाता है तो वह चारो ओर से तेल को खींचता है। तेल मे पक कर उस लौंदे का जो रूप होता है, वह बडा कहा जाता है। समझिये कि ऐसी ही आत्मा के साथ कर्म बध की प्रक्रिया होती है। मनुष्य के मन रूपी कडाही मे जब गर्मी आती है और उस गर्मी के कारण उबाल आता है या तूफान आता है क्योंकि मन कषाय से युक्त होता है। उस वक्त उसके शरीर मे तेल के

मानिन्द परमाणु भी रहते हैं, वे खींच लिये जाते हैं और कर्म उस आत्मा के साथ सयुक्त हो जाते हैं।

यह बडी वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसको ध्यान से समझने की चेष्टा करें। जैन शास्त्रो की दृष्टि से आत्मा का जन्म सिर्फ माता की कुक्षि में ही नहीं होता अथवा देव-शैय्या पर ही नहीं होता है। जमीन से भी जन्म हो सकता है तथा परीक्षण की नली मे भी जीव की पैदाइश हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। डॉ खुराणा ने जो कुछ परीक्षण तैयार किया, वह भी एक योनि बन गई हालाकि अब तक उनको पूरी सफलता नहीं मिली है। कदाचित् योनि बन भी गई तो सूक्ष्म आत्मा उसमें जन्म ले सकती है।

यह विषय सूक्ष्म है और विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला है, इस कारण आप इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व को ख्याल मे रखकर चले। अपने वर्तमान जीवन को देखे। वर्तमान में जैसा कर्म करेगे, वैसा ही फल मिलता चला जायगा। वैसे ही कर्म बधेगे और उनके अनुरूप ही दुनिया में आपके शरीर का सचालन होगा। मोटे तौर पर इतना समझलें कि आप मनुष्य जन्म में आकर बुरे कर्म नहीं करे। जितना हो सके, अच्छे कर्म करें। पूर्व कर्म जब उदय मे आवें और उन के कारण बुरी भावना आवे – उसको भी हटाने की कोशिश करे। जैसे पूर्व कर्मो के उदय से आपको क्रोध आया तो उसका शमन करने की कोशिश करे लेकिन क्रोध को सफल नहीं होने दे। सफल नही होने देने से तात्पर्य इतना है कि किसी व्यक्ति ने आप को छेडा–मन मे तूफान उठा, उस समय क्रोध आना चाहता है लेकिन ज्ञान और विवेक की सहायता से उसका शमन कर दिया। क्रोध प्रकट नहीं हुआ तो मन के योग तीव्र नहीं बने और वाणी कटुता के रूप में परिवर्तित नहीं हुई तो जो पूर्व कर्म उदय मे आये हैं वे नष्ट हो गये और नवीन कर्म नहीं बधे। लेकिन जो क्रोध का शमन नही करता है, वह उदय की स्थिति मे क्रोध की प्रतिक्रिया को भुगतना है तो उस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नवीन कर्मो के बध भी कर लेता है।

अशुभ कर्म जो बध जाते हैं, वे उदय मे आने पर इसी तरह आत्मा को सताते रहते हैं और आत्मा की ज्ञान दृष्टि नहीं बनती है तो इस चक्र में से निकल पाना ही दुष्कर हो जाता है। इस क्रोध को ज्ञान की दृष्टि से शमन कर सके तो बहुत अच्छी बात है। यदि ज्ञान नहीं मालूम हो तो एक छोटा सा सरल उपाय बता दिया करता हूँ। जैसे ही कहासुनी से गुस्से के आने का प्रसग बना, आप धोवण पानी या ठडे किये गर्म पानी की पूरी घूट मुँह मे भर ले और जव तक गुस्सा मन में उथलपुथल मचाता रहे तव तक उस घूट को न तो बाहर डाले और न अन्दर निगले – उसको मुह मे भरी रखें। यह उपाय भी काम मे लेले तो थोडी देर वाद गुस्सा ठडा हो जायगा। इससे पहले के कर्म बधन [illegible]ेगे और नष्ट भी हो जायेंगे, तो नये कर्म नहीं बधेगे। तव आत्मा के क[illegible]

उसको फलरूप में अधिक कष्ट नहीं सहने पडेगे।

जीवन के योग व्यापार मे चतुराई की आवश्यकता

आप अपने क्रोध का शमन कर लेते हैं तो सामने वाले के क्रोध का भी शमन हो जायगा। उसकी उत्तेजना तब बढती है जब आप चिनगारी डालते हैं। वह हजार गालिया देदे और आप एक का भी जवाब नहीं दे तो वह कब तक बोलता जायगा ? इस रूप मे शमन और सयम का चिन्तन करने वाली आत्मा व्यर्थ के पापों का परित्याग कर सकेगी। उदाहरण के तौर पर मैं आपको बताना चाहता हूँ। आपने एक पत्र कलकत्ते में रहने वाले अपने मित्र को लिखा कि मेरे लिये वहा एक मकान की व्यवस्था कर लें और मकान मालिक से भाडा चिठ्ठी करा लेवें – मैं आऊगा तब वहॉ पर रहूँगा। उसने कलकत्ता में एक हवेली आपके नाम पर भाडे लेली। कलकत्ता मे तो भाडा चालू हो गया और आप नोखामडी मे बैठे हैं और किसी दूसरे ध्यान मे हैं। सयोगवश आपका कलकत्ता जाना नहीं हुआ और बम्बई जाने का विचार बन गया। आपने बम्बई मे मकान भाडे लेने की व्यवस्था करा दी और सोचा कि कलकत्ता जाना नहीं होगा इससे वहॉ व्यर्थ भाडा क्यों लगाया जाय ? व्यापार मे जिस चतुराई से आप कार्य करते हैं, जीवन के योग व्यापार मे भी आपकी उसी चतुराई की आवश्यकता है।

आपको अमेरिका मे जाकर किसी होटल में खाना नहीं खाना है या बम्बई कलकत्ता के होटलों में खाना नहीं खाना है तो इसका त्याग क्यो नही कर लेते हैं ? ऐसी अनेकानेक बाते हो सकती है। उनका त्याग कर ले तथा अपने भोग परिभोग की मर्यादाऍ अगीकार कर लें तो व्यर्थ के पापो की पोटली तो सिर पर नहीं बधेगी। जैसी स्थिति सामने हो, उसके अलावा व्यर्थ के कार्यो के त्याग कर लें तो यह आपकी चतुराई होगी। चौदह नियम पद्धति से भी त्याग करना चाहें तो कर सकते हैं। प्रतिदिन के हिसाब से भी एक फार्मूला बना सकते हैं। रोजमर्रा इन चीजो की जरूरत है, इतना व्यापार करेगे इन-इन दुकानों से इतना-इतना माल मगावेंगे – उसका अनुमान लगा कर उससे भी कुछ ज्यादा मात्रा रख ले और बाकी सारी क्रिया व पदार्थो का त्याग कर ले तो व्यर्थ के पाप कर्मो से आपकी आत्मा भारी नहीं बनेगी। इसका शायद कई भाइयो को विज्ञान नहीं है। लालसा और तृष्णा के चक्कर में व्यर्थ ही पाप कर्मो का बध हो जाता है और आत्मा को भोगने के लिये निरर्थक रूप से कष्ट बढ जाते हैं। चलते-चलते कभी ऐसे प्रसग आ जाते हैं कि मुह के सामने तक आया हुआ नवाला भी चला जाता है याने की एकदम सामने तक आकर शुभ सयोग हाथ से निकल जाता है तो उस समय बडी

चिन्ता होती है, लेकिन यह तथ्य ध्यान में नहीं आता है कि व्यर्थ के पापों की जो पोटली बाधी थी उसके अशुभ फल के रूप मे ऐसा हुआ है। अपने अज्ञान और अविवेक के कारण ही ऐसा हुआ, अत व्यर्थ के पाप को तो सबसे पहले रोकने की कोशिश करनी चाहिए। यह चतुराई तो आवश्यक ही है।

कर्मो के क्षयोपशम से जीवन उत्तम बनेगा

आत्मा स्वय ही अपने कर्मो की कर्त्ता और हर्ता होती है। वही अपनी असावधानी से कर्म बाधती है तो वही अपनी विवेक शक्ति से पुराने कर्मो का उपशम या क्षय कर सकती है और नये कर्मो को बाधने से अपने को रोक सकती है। फिर जो कर्म समूह उसके साथ सलग्न होते हैं, उनका वह अपने सयम व तप की साधना से पहले उपशम व अन्ततोगत्वा क्षय कर सकती है। कर्मो के भार से हल्की बनने तथा पूरी तरह से छूटने के लिये आत्मा की तीन दिशाओ मे सतर्कता रहनी चाहिये कि सयम से उदय में आने पर पूर्व कर्मो का नाश किया जाय, विवेक से नये कर्मो का बध न होने दिया जाय तथा तपाराधन से पूर्व सचित कर्मो का क्षयोपशम कर दिया जाय। यह निश्चित है कि समस्त कर्मो से सर्वथा मुक्त होने पर ही आत्मा मोक्ष प्राप्त कर सकेगी।

किन्तु जीवन में ज्यो-ज्यों कर्मो का भार हल्का बनता जायगा तो नये-नये आत्मिक गुणो का उदय होगा और उनसे जीवन उत्तम बनता जायगा। पाप कर्म हटेगा या पाप कर्म नही बधेगा तो उतनी अशुभता ही हटेगी। अशुभता हटेगी तो शुभता आवेगी – समता आवेगी। शुभता और समता का जो अधिकाधिक विकास होता जायगा, वही आत्म विकास की प्रक्रिया होगी।

नोखा
१५ ९ ७६

2

महावीर वाणी का अनन्त आनन्द

श्री महावीर नमो वरनाणी, शासन जेह नो जाण रे प्राणी।
धन धन जनक सिद्धारथ राजा, धन त्रिशला दे मात रे प्राणी।
ज्या सुत जायो गोद खिलायो, वर्धमान विख्यात रे प्राणी।
प्रवचन सार विचार हिया मे, कीजे अर्थ प्रमाण रे प्राणी।

प्रार्थना के माध्यम से शासनाधीश प्रभु महावीर को स्मृति पटल पर लाने का प्रसग आ गया है। प्रभु महावीर का इस जगतीतल पर जो उपकार है, वह अवर्णनीय है। मानव जाति आज जो कुछ भी शान्ति का यत्किचित् अनुभव कर रही है, परिवार, समाज और राष्ट्र के बीच यत्किचित् भी जो शान्ति की मात्रा एव सहयोग की भावना चल रही है, वह सब प्रभु महावीर की महिमामय वाणी की देन है।

स्वय कठोर सयम एव तप के मार्ग पर चल कर महावीर ने परम आत्म शुद्धि प्राप्त की तथा उस शुद्धि के साथ उन्होनें देशनाएँ दी। ये देशनाएँ ही वह मार्गदर्शन है जिसे समझ कर आज की भव्यात्माएँ दृढ प्रतिज्ञ बन कर आत्म-विकास की यात्रा पर प्रयाण कर सकती है। उन देशनाओ को – उन सतसिद्धान्तमय उपदेशो को गणधरों ने सुरक्षित रखा और बाद में आचार्य श्री सुधर्मास्वामी की परम्परा ने इन पवित्रतम सिद्धातों की सुरक्षा की। इसी के परिणामस्वरूप आज महावीर-वाणी से सारा ससार प्रभावित हो रहा है।

महावीर वाणी सैद्धान्तिकता एव वैज्ञानिकता का मक्खन है

जैन सिद्धातों मे जिस रूप में दार्शनिक तत्त्वो का वर्णन एव विश्लेषण आया है तथा जिस प्रकार से उनका वैज्ञानिकता और युक्तिसगतता के साथ विवेचन किया गया है, वैसा वर्णन, विश्लेषण और विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है।

जिन महानुभावो को वश परम्परा से इन सिद्धान्तों का परिचय मिला है, उन्हें कितना प्रसन्न होना चाहिए ? उन्हें कितना हर्षोल्लास का अनुभव होना चाहिये कि एक दुर्लभ वाणी उन्हे सहज ही में प्राप्त हो गई है ?

जहाँ महावीर वाणी का अनन्त आनन्द सारे ससार को प्रेरित कर रहा है, वहाँ महावीर के परम्परागत अनुयायियो को तो आगे बढकर इस वाणी के गहरे तत्त्वो का अध्ययन करना चाहिये, उनको हृदय मे उतारना चाहिये तथा अपने आचरण-आदर्श से ससार के सन्तप्त मानवों को प्रभावित बनाकर महावीर वाणी के माध्यम से शान्ति प्राप्त कराने का प्रयास करना चाहिये। आज पूर्व और पश्चिम के समस्त दार्शनिक साहित्य को टटोले, तब भी उनमें वह कल्याणकारी तत्त्व नहीं मिलेगा, जो महावीर वाणी के शब्द-शब्द और अर्थ-अर्थ मे समाया हुआ है।

सच पूछें तो महावीर वाणी सदाशय की ओर उन्मुख सैद्धान्तिकता एव वैज्ञानिकता का मक्खन है – सारभूत है। महावीर के अनुयायियों के लिये यह दयनीय और चिन्तनीय स्थिति है कि ऐसी आत्मोत्कर्षकारी वाणी को न तो वे स्वय गहराई से समझ कर अपने जीवन मे उतारने का गभीर आयास कर रहे हैं तो न ही वे उसके समुचित प्रसार का सुन्दर प्रबन्ध कर पा रहे हैं जिससे कि ससार के जिज्ञासु एव विकासाकाक्षी जीवो को मार्गदर्शन मिल सके। कई विद्वान् साहित्य का निर्माण कर रहे हैं और पुस्तके लिख रहे हैं, वे गन्ने के समान हैं जिसमें कचरा ज्यादा और रस अत्यल्प होता है, जबकि महावीर वाणी के एक सूत्र में जितना जीवन्त सार मिलता है, उतना हजारों पुस्तको में भी नही। ऐसे मक्खन की तरफ नहीं जाकर जो कचरे की तरफ बढता है, उसकी बुद्धि को क्या कहे ?

महावीर वाणी उस स्वतत्र खोज का परिणाम है, जो उनके अपने जीवन के सर्वांगीण विकास से उद्भूत हुई। कठोर साधना से उन्होंने अनन्त आत्मिक शक्तियो का प्रगटीकरण किया और उन शक्तियों के प्रकाश मे केवलज्ञान की प्राप्ति करके उन्होने अपना स्वतत्र दर्शन दिया। केवलज्ञान के प्रकाश में उन्होंने ससार के समस्त दृश्य एव अदृश्य पदार्थो का तथा तत्त्वो का अवलोकन किया, उनके वास्तविक स्वरूप को समझा तथा आत्मा की यथार्थ उन्नति के लिये सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। वे परिपूर्ण सिद्धान्त न केवल दर्शन की कसौटी पर खरे उतरे हैं बल्कि विज्ञान की कसौटी पर भी खरे उतरे हैं। इसी कारण उनमें सामयिकता नहीं, बल्कि शाश्वतता है। वे सदा काल सच्ची शान्ति चाहने वाले जीवो को सही मार्गदर्शन देते रहेंगे।

अनन्त ज्ञान एवं अनन्त शक्ति से उदभूत वाणी महावीर वाणी

आज किसी व्यक्ति को जाति स्मरण ज्ञान हो जाता है तो चारों ओर आश्चर्य फैल जाता है। जाति स्मरण ज्ञान का तात्पर्य है पूर्व जन्म की बातो को

बतलाने वाली ज्ञान की पद्धति। आये दिन अखबारो मे समाचार निकलते हैं कि अमुक बच्चे ने अपने पूर्व जन्म की बातें बतलाई हैं। इसके सबध में काफी गहराई से जाच पडताल होती है और तथ्यों की सत्यता स्थापित की जाती है। इस विज्ञान को परा-मनोविज्ञान की सज्ञा दी गई है। इसे बहुत बडी उपलब्धि मानते हैं। जब परमाणु की खोज की गई तो उसे वैज्ञानिकों ने बहुत बडी खोज मानी। ये सब चीजें अनन्त ज्ञान एव अनन्त शक्ति के धारक महावीर प्रभु के लिये अत्यन्त साधारण थी। आज का यह सारा ज्ञान उनके समक्ष समुद्र में एब बूद के तुल्य भी नहीं है।

महावीर ने अध्यात्म विज्ञान को इस परिपूर्ण रूप से प्रस्तुत किया कि उसमे ससार के सारे विज्ञान समाहित हो जाते हैं। इसको देखने और समझने की दृष्टि होनी चाहिये। यह दृष्टि भी आत्मानुभूति से प्रबुद्ध बनी हुई हो। फिर कोई प्राकृत भाषा में लिखित महावीर वाणी के सूत्रो का पाठ करे–उनके भावार्थ की गहराई में उतरे तो वह ज्ञान की प्रखर ज्योति में सच्चे आन्तरिक आनन्द को प्राप्त कर सकता है। जो इनमें आनन्द नही ले पाता है, वह आधुनिक साहित्य को टटोलता है और आगम की अमूल्य निधि को छोडकर इधर-उधर भटक जाता है। यह उसके विवेक का दोष होता है क्योंकि जिस व्यक्ति को उस वाणी को साधने की विधि मालूम नहीं हो तो वैसा व्यक्ति उनका अध्ययन कैसे कर सकता है तथा कैसे आन्तरिक आनन्द ले सकता है ?

एक दु खी व्यक्ति को दु ख मे झूरते हुए किसी समझदार पुरुष ने देखा तो कहने लगा – भाई, इस प्रकार रोता चिल्लाता क्यों है ? तुझे क्या दु ख है ? उसने कहा – दु ख एक हो तो बताऊ, यहॉ तो हजार दु ख है' तब समझदार पुरुष ने कहा – बसन्तपुर के नरेश बडे दयालु हैं, वे सबका दु दूर करते हैं, तुम भी वही चले जाओ। वह दु खी व्यक्ति बसन्तपुर पहुॅच गय। और राजा के सामने गिड़गिडाकर कहने लगा – मुझे चारो ओर से दु ख ही दु ख है, महाराज आप मुझे सुखी बना दीजिये। राजा ने भडारी से उसको एक बहुमूल्य रत्न देने का आदेश दिया। भडारी ने बहुमूल्य रत्न उसको दे दिया। वह वहॉ से वापिस चला तो बडा दु खी हो रहा था कि मैं इसको क्या करूगा ? मेरे दु ख मिटने का तो कोई लक्षण ही दिखाई नही दे रहा है। सबसे पहले भूख मिटाने की गरज से उसने रत्न को दातो से चबाना चाहा, मगर उल्टा उसका दात टूट गया। वह तो और अधिक दु खी हो गया। तब उसको एक जौहरी मिल गया। उसने सारी कहानी जानकर कहा कि यो भूख कैसी मिटेगी ? इसके लिये विधि से चलो। यह रत्न तो सवा लाख का है मगर इसको गिरवी रख दो और २०-३० हजार रुपया लेकर अपनी भूख भी मिटाओ तथा व्यापार शुरू कर दो सो इस एक रत्न से तो तुम अत्यन्त समृद्धिशाली बन जाओगे। इसलिये कोई भी कार्य विधि से सम्पन्न होता है। भोजन की सारी सामग्री हो मगर विधि नहीं हो तो क्या उस सामग्री का सही तरीक से उपभोग किया जा सकेगा ? उसी प्रकार महावीर वाएँ का विधि

से अध्ययन-मनन किया जायगा तो ज्ञान के कई रत्न उपलब्ध हो सकेंगे।

महावीर वाणी अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति से उद्‌भूत वाणी है तथा इसको जो भी गभीरतापूर्वक आत्मसात् कर लेता है, वह भी अनन्त ज्ञान एव अनन्त शक्ति का स्वामी बन सकता है। विकास सूत्रो से परिपूरित यह वाणी ऐसी अमूल्य है कि इसे जीवन मे उतार कर आत्मा परमात्म पद तक पहुँच सकती है।

आत्म विकास के पथ पर शान्ति और आनन्द कहाँ ?

क्या आज की दुनिया सुखी बनना चाहती है ? क्या वह सच्चा आनन्द लेना चाहती है ? ज्ञानी और सन्त जन बतलाते हैं कि इस महावीर वाणी मे अपार आनन्द भरा हुआ है। यह महावीर वाणी ही वीतराग वाणी है – जिन्होने अत्यत कठिनाई से त्याज्य राग को भी समाप्त कर दिया – उन आप्त पुरुषो की वाणी है। इस वाणी की – इसके गूढ ज्ञान की क्या किसी से तुलना की जाय ? इस वाणी से जागृति ग्रहण करके जो आत्म विकास के पथ पर चल पडता है, वह उत्कृष्टता की सीमा पर पहुँच कर सच्ची शान्ति और सच्चे आनन्द को प्राप्त कर लेता है। सिवाय वीतराग वाणी के आत्म विकास के पथ पर शान्ति और आनन्द कहाँ ?

महावीर वाणी के अमृत को जो अपनी आत्मा के कण-कण मे रमा लेता है, वह एक जन्म के क्या जन्म-जन्मान्तरो के दु खों को नष्ट कर देता है। इस बात को लेकर मेरे भाई कभी शास्त्रों को लेकर बैठ जाते हैं और उनका अध्ययन करते हैं – उनको कठस्थ भी कर लेते हैं। फिर किसी से पूछे कि क्या तुम्हे शान्ति मिली ? वह उत्तर देगा – मैंने शास्त्रो को कठस्थ भी कर लिया, फिर भी जो शान्ति चाहता था वह नही मिली – जिस उल्लास को पाने के लिये मन आतुर था, वह उल्लास नहीं आया। जानते हैं, ऐसा क्यों हुआ ? जिस विधि से शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये, उस विधि से जब तक उनका अध्ययन नहीं किया जायगा, तब तक वाछित शान्ति और उल्लास की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। कठस्थ करने से ही शास्त्राध्ययन नहीं हो जाता है। शास्त्रो के अर्थ की गहनता मे जाना चाहिये तथा चिन्तन के माध्यम से खोज करनी चाहिये कि मूल तत्त्व कहाँ और किस रूप मे छिपा हुआ है ? यह ज्ञान की ऐसी विशाल निधि है, जिसका उदघाटन बडे-बडे आचार्य भी नहीं कर पाये।

ठाणाग सूत्र की टीका आरम करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि मेरे पूर्व पुरुष इस सूत्र का उदघाटन नहीं कर पाये, वे डरते रहे लेकिन मैं साहस करके – घृष्टता करके इसका उद्‌घाटन कर रहा हूँ। कहने का तात्पर्य यह है कि शास्त्रो का भाव, भाषा व शैली को समझकर उनके गूढार्थ मे गहरे उतरने वाले विरले ही मिलते हैं। इसी कारण सामान्य दृष्टि से शास्त्र दूर पडते जा रहे हैं एव आत्म

विकास का सच्चा ज्ञान अबोध होता जा रहा है। परिणामस्वरूप जीवन की वृत्तिया बिखर रही है तथा मन चचल बनकर भटक रहा है। सामान्य जन त्राहिमाम् त्राहिमाम् कर रहे हैं। जहॉ कल्पवृक्ष के समान महावीर वाणी है, विधि एव विवेक के अभाव मे उसका सही उपयोग नहीं हो पा रहा है – यह वैसा ही है जैसा कि पानी पास मे होते हुए भी प्यासे मरना। महावीर वाणी के अनुसार आत्म विकास के पथ पर चलें तो शान्ति और आनन्द का पार नहीं है।

महावीर-वाणी के चार मुख्य मुद्दे

वैसे तो महावीर प्रभु ने ससार, आत्मा तथा परमात्मा के स्वरूप पर अनेकानेक सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है तथा सारी प्रक्रियाओं का सूक्ष्मता से विवेचन किया है, किन्तु यहॉ अति सक्षेप मे चासनी के तौर पर महावीर के चार मुख्य मुद्दों पर हल्की सी रौशनी डाले जिससे यह ज्ञात हो सके कि यह वाणी कितनी रत्नगर्भा है ? ये चार मुख्य मुद्दे ले रहे हैं – कर्मवाद, अपरिग्रह, अहिसा तथा अनेकान्तवाद।

कर्मवाद का सिद्धान्त बहुत ही गहरा सिद्धान्त है। इसके माध्यम से ससार मे जड चेतन के स्वरूप, कर्मबध, उदय एव क्षयोपशम की प्रक्रिया तथा मोक्ष के लक्ष्य का गभीर अध्ययन हो जाता है। इसको सरलता से समझिये कि ससार में केवल दो तत्त्व है जड और चेतन – अजीव और जीव। ससार मे जो हलन चलन और रौनक दिखाई देती है वह जड और चेतन के सम्मिलन से। कोरा जड तो निर्जीव होता है लेकिन चेतन के साथ लग कर वह क्रियाशील हो जाता है। कार्मण वर्गणा के पुद्गल – कर्म जड होते हैं जो आत्मा की शुभता और अशुभता के अनुसार उससे सलग्न हो जाते हैं तो उनके फलस्वरूप आत्मा शरीर धारण करती है। जीव और अजीव मिलते हैं तो यह जीव के लिये बन्धन होता है। उनकी सक्रियता से कर्मो का बध होता है। बध शुभ हुआ तो वह पुण्य तथा अशुभ हुआ तो पाप हाता है। आश्रव की प्रक्रिया से कर्म आते हैं तो सवर से वे रोके जा सकते हैं। निर्जरा के माध्यम से कर्मो का उपशम और फिर क्षय भी होता है। कर्मो के सपूर्ण क्षय के साथ ही जड से चेतन मुक्त हो जाता है – बन्धन से छूट जाता है – यही मोक्ष है। मोक्ष को ही आत्मा का लक्ष्य माना गया है तथा जब आत्मा मोक्ष पा लेती है तो वह परमात्मा बन जाती है।

आत्मा बन्धनो से छूटेगी तो कैसे ? उसका सबसे बडा बन्धन होता है ममता का। ममता याने मोह और मोहनीय कर्म को आठो कर्मो का राजा कहा है। यही कर्म बहुत चिकना होता है। ममता मूर्छा होती है और मूर्छा का ही नाम परिग्रह है। 'मुच्छा परिग्गहो' मूर्छा ही परिग्रह है और अगर मूर्छा न रहे तो सारा द्रव्य परिग्रह सोना चादी धन सम्पत्ति आदि धूल बराबर हो जाता है। इसीलिये

महावीर ने परिग्रह त्यागने की बात कही – मूर्छा को छोडने का उपेदश दिया। यह सिद्धान्त अपरिग्रहवाद कहलाता है। भावना से परिग्रह का मोह त्यागें और द्रव्य परिग्रह को साधु पूर्णरूप से छोडे तो श्रावक उसकी मर्यादा बाधे। ममता छूटेगी तो आत्मा में समता जागेगी – व्यक्ति का जीवन नैतिकता और त्याग वृत्ति पर आधारित बनेगा और परित्याग करने व मर्यादाएँ ग्रहण करने से पदार्थो का सारे समाज में सुखद विकेन्द्रीकरण हो सकेगा। अपरिग्रहवाद से व्यक्ति साम्ययोग की तरफ बढेगा तो समाज समतामय बन जायगा।

व्यक्ति एव समाज का अभ्युदय आचरण से होगा और आचरण का मूल माना है महावीर ने अहिसा को। यह अहिसा पद्धति बहुत गहरी है। अहिसा के दो पहलू हैं – निषेध रूप और विधि रूप। हिसा नहीं करना यह निषेध रूप है तो इसका विधि रूप है रक्षा करना। किसी के प्राणों का व्यतिरोपण मत करो तो सबके प्राणों को सच्चा सुख पहुँचाओ – जीओ और जीने दो, यह अहिसा का सन्देश है। महावीर ने अहिसा को काया की सीमा तक ही नहीं रखी है बल्कि उसका वचन और मन में भी समावेश किया है। वचन से किसी को क्लेशकारी बोल न कहो तो मन से भी किसी को कष्ट देने की मत सोचो। मन, वचन और काया मे अहिसा रम जाय तो वह अहिसक यथार्थ अर्थ मे छ काया के जीवों का प्रतिपालक बन जायगा।

आचरण मे ऊँचे सोपानों पर चढते हुए सत्य का दर्शन करने की ललक जागती है तथा सत्य के सर्वांश का दर्शन कराने वाला महावीर का अनुपम सिद्धान्त है अनेकान्तवाद, स्याद्वाद या सापेक्षवाद का सिद्धान्त। अन्धों द्वारा हाथी का वर्णन करने की कहानी आप जानते होगे। जितना एकान्तवाद है – यह ऐसा ही है, वह सब अन्धापन है। ऐसा 'भी' है – यह सत्य जानने की जिज्ञासा है। प्रत्येक के कथन मे कुछ न कुछ सत्याश होता है किन्तु दुराग्रह मे पटक दिये जाने से वह सत्याश भी मिथ्या हो जाता है और यदि सभी विचारों को समझने की चेष्टा की जाय तो कई सत्याशो के मिल जाने से पूर्ण सत्य के दर्शन किये जा सकते हैं। यह विचार-समन्वय का सिद्धान्त है जो विचार-सघर्ष को टालता है। सबके विचारों को सुनो-जानो और अच्छाइयों को ग्रहण करो। यह सत्य की ओर गति करने की प्रेरणा है।

इस प्रकार महावीर वाणी का एक-एक सिद्धान्त इतना गहरा, इतना कल्याणकारी और इतना सारभूत है कि सच्चे हृदय से आत्मा यदि एक सिद्धान्त को भी अपना ले तो वह अपार आनन्द से लाभान्वित हो सकती है।

महावीर के सिद्धान्तो पर व्यापक शोध और अन्वेषण

प्रभु महावीर की वाणी का जिन्होंने अधिक गहराई से अध्ययन किया है

और उसमें व्यापक शोध और अन्वेषण जो आज भी कर रहे हैं, वे स्वय जैन धर्मानुयायियों एव भारतीयों से भी अधिक विदेशी लोग हैं। मुझे श्री जेठमल जी ललवाणी ने बताया जो विदेशो मे रहते हैं कि जर्मनी में जैन ग्रथों पर व्यापक रूप से शोध और अन्वेषण हो रहा है तथा वे अपने गभीर अध्ययन के निष्कर्ष भी निकाल रहे हैं। विदेशों में अधिकाशत तो भौतिक विज्ञान वेत्ता हैं, लेकिन कहा जाता है कि वे जिस क्षेत्र में भी शोध करना आरभ करते हैं, उसमे बडी बारीकी और गहराई से काम करते हैं। भारत मे भी कई अध्येता जैन शास्त्रों में गहरी रुचि ले रहे हैं तथा प्राचीन ग्रथो की शोध का कार्य भी चल रहा है।

कर्मवाद, अपरिग्रहवाद, अहिसा, अनेकान्तवाद आदि प्रमुख सिद्धान्तों के अलावा भी महावीर के इतने अन्य प्रभावकारी सिद्धान्त हैं जिन पर गहरी शोध की जाय तो नई-नई तात्विक समीक्षाए ज्ञान में आ सकती है। मूलत शास्त्रों को पढने, समझने और गहरे उतरने की वृत्ति मद पडती जा रही है और विशेष रूप से उन लोगों में जो वश परम्परा से अपने को महावीर के अनुयायी मानते हैं। यह एक विडम्बना जैसी बात है। जो भी बुद्धिशाली अजैन एक बार महावीर के किसी भी सिद्धान्त के बारे में जानकारी प्राप्त करता है तो वह तब सारे सिद्धान्तो के बारे में अधिक से अधिक जानने की इच्छा करता है, किन्तु उसे यथायोग्य सामग्री नहीं मिल पाती है।

आज इस कर्त्तव्य को प्राथमिक कर्त्तव्य के रूप मे देखना चाहिये कि महावीर वाणी का अधिकाधिक प्रसार किया जाय – उसके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में व्यापक शोध एव अन्वेषण की सुगम सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाय। कई जैन सस्थाओं ने अब इस दिशा में भी रुचि लेनी प्रारभ की है किन्तु सगठित प्रयासो की आवश्यकता है कि सर्वसम्मत साहित्य का प्रकाशन हो, जिस से आधुनिक युग में महावीर के सिद्धान्तों से वर्तमान समस्याओं का सुन्दर समाधान निकाला जा सके और सतप्त मानवता को शान्ति प्रदान की जा सके।

कोई भी राष्ट्र या समाज दीर्घजीवी तभी बनता है जब वह अपनी ज्ञान निधि की सुरक्षा भी करता है तथा उसकी प्राभाविकता को भी फैलाता है। मनुष्य एक गतिशील प्राणी होता है और जो भी गति वह करता है, यदि उसके साथ उसका सम्यक् ज्ञान जागृत बना रहता है तो उसकी गति सदा स्वस्थ एव श्रेष्ठ होती है। फिर महावीर के सिद्धान्त तो स्थान और समय की सीमाओं से परे हैं। उनका प्रभाव सदा काल एक सा रहता है तो उनका क्षेत्र सम्पूर्ण मानव जाति ही नहीं, समस्त प्राणी वर्ग है। ऐसे सिद्धान्तों के प्रसार में कार्य करना बहुत बडी धर्म दलाली है। इस कार्य से सारे विश्व की सेवा होती है।

स्वय समाधान ले,
दूसरो को समाधान दे।

यह महावीर वाणी जिन्हें भी बपौती मे मिली है, वे सब और वे सहृदय

व्यक्ति भी जो इस वाणी मे गहरी अभिरूचि रखते हैं – विश्व के कल्याण की भावना से महावीर के सिद्धान्तों के सम्बन्ध मे कोई जिज्ञासा या शका उत्पन्न हो तो अपने से विशिष्ट ज्ञानी के पास जावे और सतोषजनक समाधान प्राप्त करें तथा निर्द्वन्द हृदय से उनका प्रचार प्रसार करे एव दूसरे लोग जो भी जिज्ञासाएँ या शकाएँ प्रस्तुत करे उनका वे उनको सुन्दर समाधान दें।

किन्तु समाधान की स्थिति तभी आवेगी, जब पहले शास्त्रो और सूत्रों का स्वय गहराई से अध्ययन कर लेंगे। पहले स्वय ज्ञान लेगे तभी ज्ञान का प्रसार कर सकेगे। आज आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक छोटा बडा – तरूण वृद्ध ज्ञान-पिपासु बन कर महावीर वाणी के अन्त स्तल मे प्रवेश करने का आयास करे। आज जो अपने आपको महावीर वाणी के अधिकारी मानते हैं, सोचिये कि कहा जाकर खड़े होगे ? आज की दुनिया भौतिक विज्ञान की प्रगति के साथ छोटी हो गई है। कल्पना करे कि आप किसी जर्मनी के अध्येता के सामने खडे हो और उसे मालूम हो जाय कि अन्य जैन हैं तो वह तत्त्वो की अधिक गहराई जानने के लिये अपको जैन फिलॉसफी के बारे मे प्रश्न पूछे, तब बताइये कि आप कैसा अनुभव करेगे ? आज की आपकी ज्ञान दशा पर आपको ही चिन्तन करना चाहिये। वह जर्मन शोधकर्त्ता आप को पूछे कि जैन फिलॉसफी का मूल मत्र क्या है तो आप उस को क्या बता पायेगे ? ज्यादा से ज्यादा शब्दों का उच्चारण कर देंगे कि णमो अरिहताण आदि और वह भी शुद्ध कर पायेगे या अशुद्ध – यह आप जानें। नमस्कार-मत्र मे कितना सार और तत्त्व भरा हुआ है तथा उसके गूढ अर्थ की किस रूप में मीमासा की जा सकती है – यह तो आप बिना अपने गहरे अध्ययन के दूसरो को भला कैसा बता पायेगे ?

आवश्यकता आज गहरी हो गई है कि आप जैन सिद्धान्तों के विषय में आपको प्राप्त परम्परागत ज्ञान से आगे बढे। यह एक सामान्य स्थिति है और उसमे आवश्यक गतिशीलता का अभाव आ गया है। अब इस दिशा मे नये प्रयत्न अनिवार्य बन गये हैं। विस्तृत ज्ञानाभ्यास मे आपका परम्परागत ज्ञान भी पृष्ठभूमि का काम करेगा, किन्तु नियमित अध्ययन का नियमित अभ्यास डालना होगा तथा उसके साथ ही चिन्तन की प्रणाली का विकास करना होगा। पढेंगे और उस पर सोचेंगे तो स्वाभाविक रूप से नई-नई जिज्ञासाएँ उत्पन्न होगी। इन्हीं जिज्ञासाओं का स्वय समाधान लेते हुए चलेगे तो आगे जाकर ऐसी ही जिज्ञासाएँ दूसरे लोग आपके सामने रखेगे तो आप उनके सन्तोष के अनुसार उनका समाधान प्रस्तुत कर सकेगे।

स्वाध्याय की प्रवृत्ति को सर्वत्र प्रसारित करने की आवश्यकता

महावीर वाणी के स्वस्थ प्रसार का सुन्दर उपाय यही है कि स्वाध्याय की नियमित प्रवृत्ति को सर्वत्र प्रसारित की जाये। प्रत्येक ग्राम नगर में आत्मार्थी व्यक्ति इस प्रवृत्ति का सचालन करे तथा प्रत्येक भावनाशील व्यक्ति स्वाध्यायी बने। नियम बना लिया जाय कि प्रतिदिन प्रात काल अमुक समय के लिये एक शान्त और एकान्त स्थानों पर शास्त्रो का अध्ययन और मनन किया जायगा। इस स्वाध्याय की प्रवृत्ति का सीधा प्रभाव होगा कि ज्ञान चर्चा की प्रवृत्ति भी चल पडेगी। स्वाभाविक रूप से पठित विषय पर चर्चा करने की वृत्ति जगेगी और फिर पारस्परिक विचारों के आदान प्रदान से ज्ञान में अभिवृद्धि होगी।

स्वाध्याय की प्रवृत्ति मन्द पड जाने से ही वर्तमान ज्ञान दशा में मन्दता दिखाई दे रही है। स्वाध्याय के अभाव में ज्ञान दृष्टि में नवीनता और परिपक्वता नहीं आ पाती है। तब पारम्परिक ज्ञान भी कुछ कुछ रूढ सा हो जाता है। नमस्कार मत्र की माला फेरेंगे, तब भी शुद्ध-अशुद्ध उच्चारण भले कर ले, उस मत्र के मर्म मे जाने की चेष्टा कितनेक लोग कर पाते होंगे ? कई लोग नमस्कार मत्र के पदों के साथ भी और कुछ जोड कर उच्चारण करते हैं जैसे वे अपनी विद्वत्ता दिखा रहे हो। कल एक बाई ने मुझे मगलिक देने को कहा, मैंने मगल-पाठ सुना दिया तो वह बोली कि आपने तो मुझे छोटी मगलिक ही दी – बडी मगलिक नही दी। मैंने बाई को समझाया कि मूल मगल-पाठ तो मैंने सुना दिया है, अब उसके साथ कई दूसरी बातें जोड कर सुनाई जाती है, वे मैं नहीं सुनाता हूँ – जो विधि है उसमें मैं अपनी विधि नहीं लगाता हूँ। कहने का अभिप्राय यह है कि महावीर वाणी की मौलिकता की रक्षा करते हुए उसकी आन्तरिकता का व्यापक रूप से प्रसार किया जाना चाहिये और उसकी तैयारी इस स्वाध्याय की प्रवृत्ति से तुरन्त शुरू कर देनी चाहिये।

स्वाध्याय की प्रवृत्ति स्वय अपनाने से और सब तरफ फैलाने से महावीर वाणी की आप शुद्ध सेवा कर सकेंगे। मैं आपको यह सकेत इसलिये दे रहा हूँ कि भगवान् महावीर ने अपने उपदेशो से सपूर्ण जगत् का जो उपकार किया है, वह उपकार फिर सक्रियता ग्रहण करे तथा ससार के मुमुक्ष प्राणी इस वाणी के अमृत का रसास्वादन करके अपनी कल्याण साधना सपादित कर सके। इस दृष्टि से आप चिन्तन करें एव क्रियाशील बने।

श्री महावीर नमो "वरनाणी"
शासन जेहनो जाण रे प्राणी।

कवि ने प्रार्थना में आपको उद्‌बोधित किया है कि आप महावीर प्रभु को नमस्कार करे लेकिन कैसे महावीर को ? वे महावीर 'वरनाणी' हैं अर्थात् श्रेष्ठ ज्ञानी हैं। और श्रेष्ठ ज्ञान की ऐसी प्रगतिशील दिशा उन्होने दुनिया को दिखाई कि आज भी उनका धर्म शासन चल रहा है। आज हम सभी उनके शासनस्थ होकर जो चल रहे हैं, उसकी मूल प्रेरणा उनके श्रेष्ठ ज्ञान की प्रेरणा है।

श्रेष्ठ ज्ञान का उत्कृष्ट प्रतीक केवल ज्ञान होता है। उससे बढकर और कोई ज्ञान नही होता उसी तरह जैसे कि सूर्य के प्रकाश से बढकर और कोई प्रकाश नहीं होता। सूर्य के प्रकाश के सामने दीपक, बल्ब, ट्यूबलाईट, तारों और चन्द्र का प्रकाश भी फीका दिखाई देता है। वास्तव मे तो श्रेष्ठ ज्ञानी को सूर्य की उपमा देना भी उनके योग्य नहीं है। इसीलिए मानतुगाचार्य ने भक्तामर स्तोत्र में कहा है कि अनन्त सूर्यो के प्रकाश से भी श्रेष्ठ ज्ञान के दिव्य प्रकाश की तुलना नहीं की जा सकती। सूर्य का प्रकाश ताप देने वाला होता है और अधिक सूर्यो का ताप इकट्ठा हो जाय तो मनुष्य भस्म हो सकता है। लेकिन भगवान् का ज्ञान रूपी सूर्य ऐसा है, जिसका प्रकाश पाने पर आह्लाद उत्पन्न होता है, उल्लास जागता है और आन्तरिक आनन्द की वृष्टि होती है।

अनन्त आनन्द के
सरोवर मे

महावीर वाणी के ज्ञान चिन्तन से जब अनन्त आनन्दानुभव की श्रेष्ठता तक पहुँचा जा सकता है तो क्यों नहीं, प्रत्येक ज्ञान पिपासु उस सरोवर मे अवगाहन करने का सुन्दर प्रयास करे ? जिस शीतलता से आपको आनन्द का अनुभव हो, उस शीतलता की दिशा में आगे बढना स्वय आपके लिये पहले हितावह है। आप शीतलता का अनुभव करेंगे तो दूसरों को भी अपने विषय विकारों का शमन करके शीतलता की ओर बढने की प्रेरणा दे सकेंगे।

ऐसे श्रेष्ठ महावीर भगवान् के चरणो मे भावूपर्वक वन्दन करें और श्रद्धा के साथ उनकी अमूल्य वाणी के अध्ययन और अन्वेषण मे लगे। यदि ऐसा आह्लाद और उल्लास के साथ करेगे तो आपको अमित आनन्द और अनन्त आनन्द की प्राप्ति भी हो सकेगी।

नोखा
१६ ९ ७६

3

आत्म समाधि में आयुष्य का उपयोग

श्री महावीर नमो वरनाणी,
शासन जेहनो जान रे प्राणी।

श्रेष्ठ ज्ञानी प्रभु महावीर के शासन में अनेक भव्य प्राणी अपनी जीवन-शान्ति रूप समाधि को प्राप्त करने का यत्न कर रहे हैं और उन भव्यों में भी कई भव्य इस शासन में सक्रिय बनकर आत्मिक समाधि का वरण करेंगे तथा अपने आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त बनायेंगे।

आत्मा समाधि की उत्कृष्टतम अवस्था होती है सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमात्मा की समाधि। तभी आत्म शान्ति स्थायी और सच्ची बनती है। जब तक सच्ची आत्म शान्ति स्थायी रूप से इस आत्मा को नहीं मिलती है तब तक इस को असमाधि रहेगी। समाधि मिलती है तो शान्ति प्राप्त होती है और असमाधि रहती है तो दु खों का दौरदौरा चालू रहता है। असमाधि की अवस्था का अर्थ होता है कि आत्मा दु ख द्वन्दों के जगल मे भटकती रहेगी।

आत्मा समाधि की साधना जीवन का सार

समाधि का अर्थ होता है सुख और शान्ति। इस आत्मा को सच्चा सुख और सच्ची शान्ति मिले—वैसी साधना ही जीवन के लिये आवश्यक है तथा वही जीवन के लिये सार रूप भी। वीतराग देव ने आत्म समाधि की साधना को अधिक जटिल या कठिन नहीं बनाई है। कवि ने प्रार्थना में जिस प्रकार का सकेत दिया है, उससे स्पष्ट होता है कि सहजिक रूप की साधना के साथ आत्म-समाधि को वरण करने का मार्ग भी सरल ही है। आत्म-समाधि को साध्य मानकर उसकी प्राप्ति के चार

साधनो का उल्लेख प्रार्थना की पक्तियो मे इस प्रकार किया गया है –

सूत्र, विनय, आचार, तपस्या,
चार प्रकार समाध रे प्राणी।
ते करिये, भव सागर तरिये,
आतम भाव अराध रे प्राणी।

यदि आत्मा की समाधि चाहिये तो वह चार प्रकार से प्राप्त हो सकेगी। पहला प्रकार बताया गया है – सूत्र याने शास्त्रों का अध्ययन मनन करने से आत्मा को शान्ति मिलती है। यह शान्ति या समाधि ऊपर ऊपर तैरने से नहीं मिल सकेगी। स्वाध्याय में बैठकर जब शान्त और एकान्त चित्त से शास्त्रो का अध्ययन किया जाता है और विशेष रूप से जब उनके गूढार्थ पर गहरा चिन्तन किया जाता है तो उस से अन्त करण मे एक अपूर्व उल्लास जन्म लेता है। यह चिन्तन जितना सुलझता जाता है, आन्तरिकता में उतनी ही शान्ति की अनुभूति होने लगती है। तात्त्विक एव दार्शनिक विषयों पर अनुभूतिपूर्वक चिन्तन की तल्लीनता ज्यों-2 बढती है, यह आन्तरिक शान्ति त्यो-त्यो स्थायी होती जाती है। सूत्र ज्ञान को इस दृष्टि से आत्म समाधि का साधन माना गया है।

दूसरा साधन कहा है विनय को। विनय का अर्थ है – अन्तर्वृत्तियो में ऐसी मृदुता और ऋजुता का प्रवेश होना जो बाहर की सारी प्रवृत्तियों मे परिलक्षित होने लगे। विचार, वाणी और व्यवहार मे नम्रता जितने अशो मे ज्यादा से ज्यादा घुलती मिलती है और उसके प्रभाव से दूसरो को भी सतोष का अनुभव होता है तो उससे अपनी आत्मा को अन्दर का सुख मिलता है और शान्ति का अनुभव होता है। जीवन में विनय का जितना अधिक विस्तार होता जाता है, आत्म समाधि उतनी ही अधिक सुदृढ बनती जाती है।

आत्म समाधि का तीसरा साधन आचार याने आचरण को बताया गया है। आचरण जीवन का मूलाधार होता है क्योकि सही जाने और सही मानें लेकिन उस जानने और मानने को अगर अमल मे नहीं लावे तो उसकी फिर सार्थकता ही क्या है ? सूत्र ज्ञान से प्रकाश मिल जाय और विनय के गुण से स्वभाव सम्पन्न वन जाय, तब आचरण की श्रेष्ठता का सुन्दर श्रीगणेश हो सकता है। ज्ञान के साथ क्रिया जुडती है तभी आत्मा का पुरुषार्थ सजग बनता है। यह सजग पुरुषार्थ आचरण के पथ पर सफल होता जाता है तो इस आत्मा को बहुत-वहुत सुख मिलता है। ससार मे आप लोग अनुभव करते होंगे कि अपने परिश्रम से कमाई गई रोटी भी कितनी सुखदायक महसूस होती है ? फिर जव आत्मा का पुरुषार्थ सत्पथ पर फलीभूत बने तो वह कितनी अधिक सुखद वेला होगी ? इसलिये आचरण की उत्कृष्टता से अपूर्व आत्म समाधि की अनुभूति होती है।

तपस्या चौथा साधन है जो जितनी कठोर होती है, उतनी ही गहरी आत्म समाधि मिलती है। आग जितनी ज्यादा तेज हो और उसमें सोने को जितना ज्यादा तपाया जाय तो उसमे उस सोने का सारा मैल तो जलता ही है मगर वह सोना निखर कर कुन्दन भी बन जाता है। आप गहनें गढाते होगे तो सोने की शुद्धि भी कराते होगे। आप जानते हैं कि शुद्ध सोने का मूल्य ज्यादा होता है और शुद्ध सोना मिले तो प्रसन्नता भी ज्यादा होती है। उसी रूप मे तपस्या की आराधना से जब आत्मस्वरूप उज्ज्वल बनता है और निखरता है तो आन्तरिक प्रसन्नता भी अपूर्व होती है। यह आन्तरिक प्रसन्नता आत्म समाधि को गहरी बनाती है।

आत्मा समाधि के ये चारो साधन क्रमिक हैं अर्थात् एक के बाद दूसरे की और दूसरे से तीसरे व तीसरे से चौथे साधन की साधना की सफलता के साथ–साथ आन्तरिक आनन्द की मात्रा बढती जाती है और वही अधिकाधिक आत्म-समाधि की अवस्था होती है।

सूत्र, विनय, आचार, तपस्या और आयुष्य का प्रवाह

आत्म समाधि के एक-एक साधन की साधना मे यदि गहराई से उतरा जाय तो उसका भी अन्त कहाँ है ? कोई शास्त्रो के ज्ञान सागर मे गोते लगाना शुरू करे और अपना सारा जीवन व्यतीत कर दे तब भी क्या वह शास्त्रो का सपूर्ण मथन कर सकेगा ? विनयपूर्वक कोई अपने को सारे ससार की सेवा मे समर्पित कर दे, तब भी क्या उस विनय की मृदुता का अन्त आ सकेगा ? ज्ञान और विश्वास के साथ जो आचरण की कसौटी पर चढ जाय, क्या उसका आचरण गभीर और गभीर नहीं बनता जायेगा ? और तपस्या की गभीरता का तो कहना ही क्या ? बाह्य और आभ्यन्तर तपो के विशाल क्षेत्र मे तपते जाइये और आगे बढते जाइये।

इस प्रकार आत्म समाधि का क्षेत्र बहुत व्यापक है तो आयुष्य का प्रवाह उसके लिये बहुत छोटा। प्रभु महावीर ने आचाराग सूत्र में इसका सकेत दिया है –

"वय अच्चई जोबन च।"

वाक्य बिल्कुल छोटा है मगर सारगर्भित है कि हे भव्यो, तुम्हारा वय याने तुम्हारा आयुष्य जा रहा है – तुम्हारा यौवन भी जा रहा है और प्रतिक्षण उसमें कमी आ रही है। एक क्षण व्यतीत होता है और तुम्हारा आयुष्य उतना ही छोटा हो जाता है। आयुष्य के श्वासोश्वास तो निर्धारित हैं – इस कारण जो भी समय बीतता है, वह आयुष्य को बढाता नही, बल्कि घटाता है। सौ हाथ लबी रस्सी के एक किनारे पर अगर आग की चिनगारी लगा दी जाये और वह रस्सी जलनी शुरू हो जाय तो वह रस्सी प्रतिपल सौ हाथ की लबाई से बढेगी या उस लम्बाई से छोटी होती जायगी ? यह आप सरलता से जान सकते हैं। जितनी-जितनी

रस्सी जलती हुई चली जा रही है, उतनी ही उस रस्सी की लम्बाई घटती जा रही है। पचास हाथ जल जाने के बाद फिर कितनी रस्सी बाकी रहेगी ? उस वक्त कोई व्यक्ति सोचे कि मेरी रस्सी पचास हाथ जली है तो अभी क्या हुआ है– पचास हाथ तो और पडी है। ऐसा असावधानी का सोचना क्या उस व्यक्ति की रस्सी को बचा सकेगा ? वह व्यक्ति इस प्रकार से सोचता ही रहेगा और रस्सी प्रतिक्षण जलती हुई सौवे हाथ का नम्बर भी ले लेगी। यह रस्सी का तो एक रूपक है, मनुष्य के आयुष्य का प्रवाह भी इसी रूप में चल रहा है।

इस युग मे मनुष्य का आयुष्य सामान्य अनुपात से अधिकतम सौ वर्ष का माना जाता है। इसकी यदि विस्तृत परिभाषा करे तो १९० वर्ष तक इन्सान की जिन्दगी के इस मानव तन में अधिकतम रहने का प्रसग है। आयुष्य जितना भी मान ले – जब से आत्मा ने पूर्व शरीर को छोडा है, तब से इस आयुष्य रूपी रस्सी के काल की चिनगारी लग चुकी है – वह जलना शुरू हो गई है। माता को कुक्षि मे ९-९। माह का जो समय बीता, वह भी इस आयुष्य मे कम हुआ। लेकिन बालक जब गर्भ से बाहर आता है तो परिवार वाले खुशी मनाते हैं कि उनके यहा पुत्र जन्म हुआ है। क्या वह जन्म आयुष्य रूपी रस्सी की लम्बाई घटाकर हुआ या उसको बढाकर ? इस बात का वे चिन्तन नही करेंगे और उत्साह के साथ बच्चे को बढता हुआ देखेंगे तो प्रसन्न होगे। फिर धूमधाम से उसकी वर्षगाठ पर वर्षगाठ मनाते हुए चले जायेंगे। आयुष्य की रस्सी जलती है और उसका उत्सव मनाया जाता है तो उसके पीछे क्या यह इच्छा है कि उसका आयुष्य जल्दी समाप्त हो जाय ? हकीकत मे तो जिसका उत्सव मनाते हैं, उसकी वे लम्बी जिन्दगी ही चाहते हैं। किन्तु यह अज्ञान का विषय है कि आयुष्य के रहस्य को समझने की चेष्टा नहीं की जाती है।

आयुष्य के रहस्य को समझना बहुत ही जरूरी है। जीवन मे कितना अधिक करने को है और सोचें तो उसके लिये यह जीवन बहुत छोटा पडता है। जब काम ज्यादा हो और समय कम हो तो समय का कितना मूल्याकन करना चाहिये ? विद्यार्थी लोग जानते हैं कि प्रश्न-पत्र लम्बा हो और उसे निर्धारित समय ढाई या तीन घटो मे पूरा करना है तो कलम कितनी तेजी से चलानी पडती है ? उसी तरह जब सूत्र, विनय, आचार एव तपस्या की साधना के रूप में आत्मा समाधि का उन्नत लक्ष्य हमारे सामने हो तो समझने की बात है कि इस आयुष्य का एक-एक क्षण उस लक्ष्यपूर्ति की दृष्टि से कितना अमूल्य है ?

मूल प्रश्न है आयुष्य का सदुपयोग अथवा उसका दुरूपयोग ?

इस आयुष्य का प्रवाह तो प्रतिपल चल रहा है। वह कहीं रूकता नहीं है ओर बीता हुआ प्रवाह फिर लौटकर भी आता नहीं है। वर्षगाठो के उत्सव मनावे

तब भी वह बढता या बदलता नहीं है। रजत, स्वर्ण और हीरक जयन्तिया आयुष्य के घटने का ही प्रमाणस्वरूप है, भले उन्हें आयुष्य के बढने की प्रतीक रूप मान ली हो। इसलिये मूल प्रश्न है यह देखने का कि हर क्षण गुजरते हुए इस आयुष्य का सदुपयोग हो रहा है अथवा दुरूपयोग ?

बीसवी वर्षगाठ मनाई तो आपने अपने आयुष्य के बीस वर्ष खो दिये हैं, फिर खुशी किस बात की मना रहे हैं ? यदि इससे प्रेरणा ले और वीतराग के वचनो पर अपना विश्वास रखें तो उनका उद्‌बोधन सतत सावधानी दिला रहा है कि प्रतिक्षण यह आयुष्य व्यतीत हो रहा है। अपने जीवन को देखकर आप फूले नहीं समाते हैं और अपनी जवानी पर इतराते हैं तो अपने रूप लावण्य पर गरूर करते हैं। यह नहीं सोच पाते हैं कि जवानी आई है, लेकिन जीवन तो जा रहा है। कितने दिनों की तरुणाई और कितने दिनों का रूप लावण्य – इसका चिन्तन तो इन्सान नहीं करता है, मगर इनके पीछे दीवाना बन कर वह समस्त जीवन और उसकी शक्तियो का दुरुपयोग करने लग जाता है । इस जीवन के अमूल्य आयुष्य को वह खाने पीने व मौज शौक करने में, निरर्थक लडाई झगडों मे तथा व्यर्थ की लालसाओं और तृष्णाओ में नष्ट करना आरम कर देता है। यह आयुष्य का घोर दुरुपयोग होता है।

इसका परिणाम यह बनता है कि वह दुरुपयोग से अपने अमूल्य आयुष्य को नष्ट कर डालता है और अपने जीवन को पथ भ्रष्ट बना देता है । वह इस सूत्र को नहीं पहिचानता है कि–

"अननिकिचन ते वय स वच्चे।"

अर्थात् जो आयु बीत गई है, वह वापिस आने वाली नहीं है। अगर उसका रूप लावण्य और जवानी के भोग विलास मे दुरुपयोग किया तो उस समय के सदुपयोग का अवसर हाथ से निकल गया। सदुपयोग करके उसके सुफल को गवा दिया – एक तो यह हानि और दूसरी हानि यह कि जो दुरुपयोग किया उसका बुरा फल भुगतना पडेगा। ऐसी बुद्धिहीनता बडी महगी पडती है।

लेकिन जो पडित पुरुष होते हैं, वे उपरोक्त सूत्र के मर्म को जानते हैं और आयुष्य की इस स्थिति को समझ कर अपनी साधना को बलवती बना लेते हैं ताकि उन्हे आत्म-समाधि मिल सके। ऐसा पडित पुरुष कितना ही रूपवान् हो, लावण्यवान् हो, ऋद्धि सम्पन्न हो अथवा शक्तिशाली हो – अपने नाशवान आयुष्य के रहस्य को समझता है और अपने यौवन के मद में अथवा रूप और सम्पत्ति के मानापमान में नहीं पड कर आत्म समाधि हेतु आयुष्य के सदुपयोग की ओर ही झुकता है । ऐसा पुरुष इस मानव शरीर में रहते हुए ही अपनी सच्ची समाधि का वरण कर लेता है।

आयुष्य के दुरुपयोग और फिर सदुपयोग का एक उदाहरण

यह उदाहरण है चक्रवर्ती सनत्कुमार के जीवन का। पहले तो वे अपने अद्‌भुत रूप लावण्य के अभियान मे डूबे हुए रहे और उसी में आयुष्य का दुरुपयोग करते रहे, लेकिन उससे सावधान हुए तो उन्होंने अपने शेष आयुष्य का ऐसा सदुपयोग किया कि ज्ञान दर्शन चारित्र्य की साधना को सफल बनाकर आत्म समाधि की उपलब्धि कर ली।

इन्द्र की सभा में एक बार देव और देवियॉ कोई आकर्षक दृश्य दिखाने के लिये उपस्थित हुए तो इन्द्र ने सुझाव दिया कि तिरछे लोक की आर्य भूमि के अत्यन्त रूपवान् यशस्वी चक्रवर्ती सनत्कुमार का दृश्य दिखाया जाय, जिनके यौवन और तन की अलौकिकता देवो के लिये भी दुर्लभ है । इन्द्र की इच्छा के अनुसार कार्यक्रम शुरू हुआ, लेकिन एक मर्त्य प्राणी की ऐसी प्रशसा एक देव को पसन्द नहीं आई । उसने निश्चय किया कि वह स्वय जाकर सनत्कुमार चक्रवर्ती के रूप को देखेगा और फिर उपालभ देगा कि उनकी प्रशसा उचित नहीं थी।

वह देव इन्द्र लोक से चल पडा। मर्त्य लोक में पहुँच कर उसने एक दीन हीन ब्राह्मण का रूप बनाया, फटे हुए जूतो की एक बहुत बडी पोटली सिर पर रखी और लडखडाते हुए चलते–2 चक्रवर्ती सनत्कुमार के राजप्रसाद के द्वार पर जा खडा हुआ। उसने द्वारपाल से कहा – जाओ, चक्रवर्ती से कहो कि एक विप्र उनके रूप सौन्दर्य का दर्शन करने की इच्छा से बडी दूर से आया है जिसकी सबूत उसके सिर पर रखी फटे जूतो की पोटली है। अत वे मुझे शीघ्र दर्शन दे।

द्वारपाल उस वृद्ध विप्र की बात सुनकर सीधा ही चक्रवर्ती के पास पहुँचा। उस समय वे स्नान करने की दृष्टि से सारे आभूषण आदि उतार कर खुले बदन स्नानघर मे बैठे हुए थे, फिर भी उस विप्र का हाल जानकर उन्होने उसे उसी समय ले आने का आदेश दे दिया, यद्यपि उनके मन मे था कि वह उनके सुसज्जित सौन्दर्य को देखता जब वे राज सिहासन पर आसीन होते तो ज्यादा अच्छा रहता। वह आदेश पाकर द्वारपाल विप्र को उसी समय स्नानघर के बाहर ही ले आया। चक्रवर्ती सनत्कुमार के शारीरिक रूप सौन्दर्य को देखते ही वह विप्र तो अत्यन्त प्रमुदित हो उठा – मन ही मन सोचने लगा कि इन्द्र ने जो बात कही थी, वह तो सच निकली है । वह बार-बार उनके सौन्दर्य की सराहना करने लगा।

चक्रवर्ती सनत्कुमार ने सोचा कि यह विप्र सज्जाहीन रूप को देखकर ही इतना प्रमुदित हो रहा है तो सुसज्जित रूप को देखकर कितना अधिक प्रसन्न होगा ? तब उन्होने विप्र को कहा – अभी देखकर ही इतने प्रसन्न क्या हो रहे

हो ? जब मैं सुसज्जित होकर राज्य सभा मे बैठू तब देखना मेरा रूप सौन्दर्य। विप्र तो उनकी उस समय की आकृति को ही अपलक निहार रहा था।

जब चक्रवर्ती राज्य सभा में विराजमान हुए – साज सज्जा सहित तो विप्र ने भी सभा मे प्रवेश किया। सनत्कुमार की दृष्टि उसकी ओर सहज ही चली गई कि यह सौन्दर्य का पारखी अब कितना प्रसन्न होगा ? वे देखते रहे, लेकिन विप्र के चेहरे पर खुशी आई ही नही, बल्कि थोडी देर बाद वह खडा–2 अपने सिर को इधर-उधर हिलाने लगा । सनत्कुमार ने सोचा – शायद उनके श्रृगार मे कुछ ।ो रह गई है सो वह सिर हिला रहा है । उन्होंने पूछा – भाई क्या बात है ? सिर क्यो हिला रहे हो ? स्नानघर में देखकर तो तुम अत्यधिक प्रसन्न हुए थे। क्या मेरे श्रृगार मे कोई कमी रह गई है ? विप्र ने कहा – सम्राट्, क्षमा करे, जैसा आपके शरीर का रूप लावण्य स्नानघर मे था, वैसा अब नहीं रहा। चक्रवर्ती भडक उठे, चिल्ला कर बोले–विप्र तुम नहीं जानते शायद कि सनत्कुमार के रूप का अपमान ही उसका सबसे बडा अपमान है । मेरे रूप पर लाछन लगाने का तुम्हारे पास क्या प्रमाण है ? चक्रवर्ती ने कहा तेजी से, मगर उनका मन उससे भी ज्यादा तेजी से घबराने लगा।

विप्र ने शान्ति से कहा– सम्राट, मैं सच कह रहा हू कि अब आपके शरीर मे कई रोग उत्पन्न हो गये हैं और यह रुप नष्ट होने वाला है। विश्वास न हो तो पीकदान मे थूक कर उसकी वैद्यो से परीक्षा करवा लीजिए। चक्रवर्ती ने वैसा ही किया और विप्र की बात सच निकली।

अब तो चक्रवर्ती के चिन्तन की दिशा ही बदल गई। जब रूप ही नही रहेगा तो वे रूप के अभिमान को सहेज कर क्या करेगे ? अभिमान उनके विचारो मे से निकल गया तो वे सहज भाव से सोचने लगे कि इस रूप लावण्य और ऋद्धि सिद्धि को देख देखकर मैं फूला नहीं समाता था और इस आयुष्य का मैं एक प्रकार से दुरूपयोग कर रहा था। इतने वर्ष मैंने रूप के भोग मे बिता दिये। अगर इन वर्षो का मैं सदुपयोग करता और आत्म समाधि के हित मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की आराधना करता तो मैं उस दिशा मे अब तक कितना आगे बढ गया होता ? फिर उन्होने एक क्षण की देरी नहीं की और सब त्याग कर वे मुनि बन गये।

जो क्षण को जान जाता है,
वही आगे बढता है।

जो व्यक्ति क्षण को जान जाता है – उसके महत्त्व को समझ लेता है, वही जीवन मे आगे बढ जाता है। क्षण को पकडना ही कठिन होता है क्योकि बीता हुआ क्षण वापिस लौटता नहीं। जो क्षण असावधानी में गुजर गया, समझिये कि

वह क्षण का मोती हाथ से निकल गया। इसलिये जब एक एक क्षण के सदुपयोग पर आत्मा का ध्यान जाता है तभी वह एक एक क्षण का सदुपयोग करती हुई सम्पूर्ण आयुष्य को सुधार लेती है। क्षण को जानकर ही भगवान् महावीर ने गौतम को कहा था– हे गौतम, समय (क्षण से भी छोटा काल खड) मात्र के लिये भी प्रमाद--आलस्य मत करो। आलस्य या असावधानी में एक क्षण भी खो देना बडा हानिकारक होगा।

सनत्कुमार चक्रवर्ती ने सोच लिया कि बीता हुआ आयुष्य वापिस लौटने वाला नहीं है, इसलिये जो आयुष्य अब शेष है, उसका ही भरपूर सदुपयोग कर लिया जाय। इसके बाद उन्होने वर्षगाठ नही मनाई, बल्कि कर्म की गाठो को तोडने में सर्वांगत लग गये। वे क्षण के मूल्य को पहिचान गये। उन्होने अपने शेष आयुष्य को कठिन आध्यात्मिक साधना मे लगा दिया। वस्तुत वीतराग वाणी जिनके अन्त करण मे प्रवेश कर लेती है, वे बाह्य ऋद्धि स्मृद्धि को नाक के श्लेष्य . तरह सहज भाव से छोड देते हैं और आन्तरिक साधना में पूर्णतया निमग्न बन जाते हैं। ऐसे पुरुष ही क्षण क्षण की आराधना से सम्पूर्ण आयुष्य का सदुपयोग करते हैं तथा उत्कृष्टतम आत्म समाधि में आनन्दित बनते हैं।

आयुष्य जा रहा है और आप किधर जा रहे है ?

आज का जीवन बता रहा है कि वृद्धावस्था आ जाती है किन्तु जीवन की दिशा नहीं बदलती है । किसी वृद्ध से भी कहते हैं कि अब तो थोडा दुर्व्यसनों का त्याग कर लो और वृत्तियो को सुधारलो, तब भी वह बीडी सिगरेट तक छोडने को तैयार नहीं होता है। प्रतिक्षण आयुष्य जा रहा है और समझ मे नहीं आता कि आप किधर जा रहे हैं ? क्या आपने क्षण को तनिक भी पहिचाना है ? सोचिये कि क्या मृत्यु आपको बक्ष देगी ओर यदि नहीं, तो सम्पूर्ण आयुष्य के दुरूपयोग का आपको कैसा फल भुगतना पडेगा ? आत्म समाधि की मौखिक आकाक्षा तो आप प्रकट करते हैं, किन्तु क्या बिना किसी प्रयास के ही वह आकाक्षा फलवती बन जायगी ? यह सब गभीर चिन्तन का विषय है।

सच तो यह है कि ससार की मोह माया आपसे छूट नहीं रही है – शहद की बूद से चिपके हुए हैं ओर इस जीवन – इस आयुष्य और इस क्षण का मूल्याकन नहीं कर पा रहे हैं । यह मानव तन अनेक वक्त मिला है, लेकिन क्षण को कभी नहीं पहिचाना क्योंकि वीतराग वाणी का अवसर नहीं मिला। घसीटते घसीटते पचम आरे में आ गये हें, फिर भी ससार की मोह माया में लटक रहे हैं– यह वडी ही विचित्र स्थिति है । इस शरीर की स्थिति के साथ ममत्त्व कर रहे हैं,

लेकिन न मालूम यह कब छूट जायगा ? जिस परिवार को 'मेरा मेरा' कह रहे हैं, वह कब आपके साथ आयेगा ? यही हाल धन सम्पत्ति का भी है – जाना तो खाली हाथ ही पडेगा। हॉ इन सबके लिये जो आर्त और रौद्र ध्यान ध्याते हैं, उससे अर्जित कर्मो का भार तो आत्मा के साथ बढ ही जायगा।

सनत्कुमार चक्रवर्ती के पास कितना अपार वैभव था और जब उनका विवेक जागा तो उन्होंने उसे छोडने में कितनी सी देर लगाई ? उसकी तुलना में आपके पास क्या है, लेकिन रोज-रोज उपदेश सुनकर भी आप सामान्य त्याग तक नही कर पाते – यह कैसी दयनीय दशा है ?

मुनि बन जाने के बाद सनत्कुमार का शरीर व्याधिग्रस्त हो गया– सोलहों रोग उन्हे सता रहे थे, मगर जब कोई उनका स्वास्थ्य पूछता तो वे यही कहते कि समाधि है। यह थी आत्म समाधि, जिसकी ओर वे अविचल भाव से आगे बढते जा रहे थे। उस देव ने वैसी अवस्था मे उनकी एक और परीक्षा लेने की सोची। एक अटवी में मुनि विहार कर रहे थे, वह चिकित्सक का रूप धर कर सामने से आया और मुनि को अपने रोगों की चिकित्सा कराने का आग्रह करने लगा। मुनि सनत्कुमार ने अभिमान छोड दिया था और क्षण को पहिचान लिया था, वे बोले– भाई, मुझे शरीर के रोगो से ज्यादा आत्मा के कर्म रोग सता रहे हैं। क्या तुम इन रोगो को मिटा सकोगे ? मैं इस रोग मुक्ति के लिये ही साधु बना हूँ। शरीर के रोगो की मुझे कोई भी चिन्ता नही है बल्कि उनकी तो औषधि मेरे ही पास है। यह कहकर अपना ही थूक उन्होंने सडते और दुर्गध मारते हुए अपने शरीर के एक हिस्से पर मला तो वह हिस्सा नई कान्ति से दमकने लगा। देव तो यह देखकर लज्जित हो गया। उसने असली रूप मे आकर उनको वन्दन किया।

आत्म समाधि का आनन्द अनुपम होता है

आत्म समाधि प्राप्त करने का मार्ग भले कठिन लगे, लेकिन फल रूप आत्म समाधि का आनन्द अनुपम होता है और मार्ग भी कठिन कहॉ है ? सूत्र के ज्ञानार्जन से आनन्द ही मिलता है, विनय का एक गुण अनेक आत्मिक गुणों का विकास करता है, आचरण के चरण जीवन की सारी बाधाओ को दूर कर देते हैं तो तपस्या सम्पूर्ण विकार को जला कर आत्म स्वरूप को निखार देती है । फिर भला बताइये कि किस साधन की साधना मे आनन्द की कमी है ? आनन्द लेने वाला चाहिये, क्षण को समझने वाला चाहिये और गुजरते हुए आयुष्य को पकडने वाला चाहिये। आप भी आगे बढे, क्षण को पकडे और आत्म समाधि प्राप्त करे।

नोखा

१७ ९ ७६

4

मृत्यु तथ्य भी नहीं, फिर भय क्यों ?

आज का प्रसग व्याख्यान के रूप मे तो नहीं है, स्वर्गस्थ आत्मा के विषय में कुछ कहना है। जैसा कि अभी मुनि श्री से और मत्री जी से सुन पाये हैं, पद्मसेन जी महाराज का स्वर्गवास होने का समाचार कल मिला। साधु जीवन की गरिमा को ग्रहण करने वाले विरले पुरुष होते हैं और उनमे भी दीर्घकाल तक साधना करते हुए अन्तिम क्षण को साधने वाले और भी अति विरले होते हैं।

साधु-जीवन की साधना एक दृष्टि से अन्तिम जीवन की आराधना की साधना होती है। जिस मानव-तन की उपलब्धि इस आत्मा को हुई है, वह अपने इस मानव जीवन को सर्वथा कल्याणमय मार्ग पर अग्रसर करे और निर्द्वन्द व निर्भय भाव से अपने उद्देश्य को प्राप्त करने का कठिन सकल्प बनावे–वहीं आत्मा सभी प्रकार के भयों व भितियो को जीत सकती है। ऐसी निडरता वही आत्मा दिखा सकती है, जो मरण के स्वरूप को भलीभाति जान लेती है।

मृत्यु का भय सबसे ऊपर, जबकि मृत्यु तथ्य भी नही है

मृत्यु के भय से सामान्यत प्रत्येक भीत और आतकित रहता है। कोई भी आत्मा इस मृत्यु के भय से सर्वथा अलग नही है। अधिकाश तो मृत्यु का नाम सुनते ही इतने भयभीत हो जाते हैं कि किसी तात्कालिक कारण के अभाव मे भी अपने जीवन मे वे मृत्यु के सस्कारों को मजबूती से जमा लेते हैं।

वस्तुत देखा जाए तो मृत्यु नामका कोई अलग तत्त्व या तथ्य नही है। वीतराग देवों ने ससार के तत्त्वों का जो प्रतिपादन किया है, उसमे मृत्यु नाम के तत्त्व का स्वतत्र प्रतिपादन नही है। नव तत्त्वों के प्रसग से अजीव तत्त्व के स्वतत्र अस्तित्व को समझाया गया है और जीव तत्त्व की दार्शनिक महत्ता तो प्रमुख है ही। जीव और अजीव–चेतन और जड ये मुख्य तत्त्व हैं। वैदिक दर्शन से इन्हे ब्रह्म

और माया कह लीजिए तो साख्य दर्शन के अनुसार इनके नाम हैं पुरुष और प्रकृति। प्राचीन और अर्वावचीन दार्शनिकों की दृष्टियो की परिधि में इन दो ही तत्त्वो का विशेष उल्लेख रहा है। वैज्ञानिक जगत् में इन दोनो तत्त्वो को अभौतिक और भौतिक नाम से पुकारा गया है। अब तक विज्ञान ने भौतिक तत्त्व पर ही अधिक प्रगति की है, लेकिन अब अभौतिक तत्त्व की खोज मे भी काफी प्रयास किये जा रहे है, लेकिन अब भौतिक तत्त्व की खोज मे भी काफी प्रयास किये जा रहे हैं। निष्कर्ष यह है कि कहीं भी मृत्यु नाम के तत्त्व पर स्वतत्र विश्लेषण नही आया है।

मृत्यु नाम का तत्त्व नहीं है तो वास्तव मे मृत्यु नामका तथ्य भी नहीं है। चेतन या आत्म तत्त्व अजर अमर होता है, उसकी कमी मृत्यु नही होती। वही जीव तत्त्व है। शरीर तो अजीव तत्त्व होता है और हकीकत में तो अजीव भी नष्ट नहीं होता – मात्र उसकी पर्याय बदल जाती है। जीव और अजीव तत्त्व के मिलने से जीवन बनता है, फिर जीव एक अजीव शरीर को छोडकर दूसरे अजीव शरीर को धारण कर लेता है और छोडा हुआ अजीव तत्त्व भी नष्ट नहीं होता है तो बताइये मृत्यु किसकी हुई ? क्या मृत्यु का तथ्य भी कही है ? इसीलिये गीता ने भी यही कहा कि मृत्यु कुछ नहीं है। जैसे आप फटा हुआ वस्त्र बदलकर नया वस्त्र धारण कर लेते हैं, उसी प्रकार यह आत्मा भी एक शरीर को छोड कर दूसरा शरीर धारण कर लेती है। फिर मृत्यु का अस्तित्व ही कहॉ है ? असल मे मृत्यु का भय ही सबके माथे चढा हुआ है।

मृत्यु के स्वरूप को समझो, मृत्यु से डरो मत !

जब मृत्यु नाम का तत्त्व या तथ्य ही नहीं है, तो मनुष्य मृत्यु से भय क्यो खाता है ? मैं समझता हूँ कि मनुष्य के लिये मृत्यु से बढकर कोई दूसरा भय नहीं है। आप यदि मृत्यु के स्वरूप को समझ ले तो मृत्यु से डरने का कोई कारण नहीं रह जायगा। यथार्थ मे मृत्यु का भय वास्तविक न होकर मात्र काल्पनिक है।

आप कभी किसी पुराने विचार वाले व्यक्ति से पूछेगे कि मृत्यु क्या होती है तो वह बतायगा कि जब मनुष्य की मृत्यु आ जाती है तब यम के दूत उसको लेने के लिये आते है। फिर उसको यमराज के दरबार मे ले जाया जाता है, वहॉ यम का लेखापाल चित्रगुप्त उससे उनकी जिन्दगी का लेखा जोखा पूछता है और उसके अनुसार उसे दड देता है। ऐसी कल्पनाओं ने मनुष्य के मस्तिष्क को जकड रखा है , जिनमे सार कुछ नहीं है। इन्ही कल्पनाओ की तन्द्रा में एक रोगग्रस्त व्यक्ति यमदूतो को देखता है और मृत्यु के भय से आक्रान्त हो जाता हे।

ज्ञानीजनो का कथन है कि मृत्यु के स्वरूप को समझो, मृत्यु से डरो मत। ऐसा करोगे तो मृत्यु का भय निकल जायगा। आध्यात्मिक जगत् का अनुभव लेने वाले जितने भी पुरुष हुए हैं, उन्होने मृत्यु की स्थिति को पहचाना तथा उससे भयमुक्त हो गये। यह स्वरूप ज्ञान उन्हें अपने चिन्तन से और अपनी साधना से हुआ।

प्रभु महावीर ने मरण का स्वरूप यह बताया है कि एक पडित मरण होता है तो दूसरा अपडित मरण। और पडित मरण की व्याख्या उन्होने विशद् रूप से की है कि सम्यक् ज्ञान के साथ ससार के पदार्थो के स्वरूप को समझ कर अन्तिम समय की आराधना के लिये जो साधना के क्षेत्र मे चल पडा है तथा अन्तिम समय तक उस साधना के उल्लास को बनाये रखकर और सभी प्राणियो के साथ मैत्री भाव व समभाव बनाकर जो इस तन का त्याग करता है तो वह पडित मरण को प्राप्त होता है। जो इस शरीर को साधना करते हुए छोडना है, वह पापो को छोड़ना है और पवित्रता को अपनाना है, फिर वैसी मृत्यु से कैसा भय ? वह तो उत्क्रान्ति के उल्लास का क्षण होता है।

जीवन मे सही ज्ञान प्राप्त नहीं किया, साधना के क्षेत्र मे आगे नहीं बढ़ा और अन्तिम समय में पडित मरण को प्राप्त नहीं कर सका– वैसे व्यक्ति ने, यह समझें कि जीवन को व्यर्थ गवा दिया। वह अन्तिम समय मे भी हाय-हाय करता रहा, मेरा-मेरा करता रहा ओर राग-द्वेष की ज्वालाओ मे जलता रहा तो वास्तव में उसे अपने जीवन से भय खाना चाहिये। वह अन्तिम समय तक आर्त और रौद्र ध्यानों में डूबा रहता है, सन्ताप और विलाप करता रहता है एव कोई त्याग-प्रत्याख्यान नहीं कर पाता, उसका अपडित मरण अर्थात् बाल मरण होता है। अपडित मरण तो इस आत्मा का बार बार हुआ है। वह अब जागृत बने और पडित मरण की तैयारी करे तो उसकी विशेषता होगी।

पडित मरण के प्रकाश मे मृत्यु के स्वरूप को समझा जायगा तो ज्ञान होगा कि मृत्यु कोई तत्त्व या तथ्य नही है – एक पर्याय मात्र है। पर्याय भले बदलती रहे, ध्रुव सत्य रहता है और अमर रहता है। आत्म तत्त्व को खतरा है विकारी जीवन से जो उसके स्वरूप को विकृत बना कर उसे दिशाहीन बना देता है, जबकि पडित मरण आत्मा स्वरूप को निखार कर शुद्ध और पवित्र बना देता हैं।

"मरणो जाणणो,
मनखा, या मोटी बात है।"

जब कोई सूर्य की तरफ पीठ देकर खडा होता है तो उसके सामने उसकी प्रतिछाया लम्बी होकर लेट जाती है जो उसकी लम्बाई से कई गुनी लम्बी दिखाई

देती है। वह छाया के रूप को अगर नहीं समझता हो तो उससे भय खा सकता है। यही स्वरूप मृत्यु का भी है – उससे जो भय खाता है वह उसके स्वरूप को नहीं समझा पाता है। प्रतिछाया के रूप की तरह अगर मृत्यु के स्वरूप को भी समझ ले तो फिर मृत्यु से कोई भय रहेगा ही नहीं। तब वह मृत्यु को अपनी मुट्ठी मे बद कर लेगा। और एक अवस्था ऐसी भी आ सकती है कि वह मृत्यु को जीत ले।

जो पडित मरण करता है, वह मृत्यु को जीत ही तो लेता है। पडित मरण की दृष्टि से जो मृत्यु को समझ लेता है और निर्भयता के साथ उसका आह्वान करने के लिये अग्रसर होता है कि मैं मृत्यु के लिये ही चल रहा हूँ – मृत्यु कब आवेगी किन्तु मैं पहले ही उस मृत्यु के रूप को अगीकार करता हूँ तो वैसा साधक मृत्यु को मृत्यु के आने से पहले ही हरा देता है। जो मरने के लिये तैयार होता है, उसी से मृत्यु खुद डरने लग जाती है।

इसलिये मरना कैसे चाहिये – यह भी सीखने की बात होती है। एक मेवाडी कवित ने इस आदर्श को इन कडियों मे गूथा है –

मरणो जाणणो, मनखा या मोटी बात है
के मरण जाणणो।
मरणो मरणो सब कोई केवे, मरे सभी नर नार
के मरणो जाणणो।
मरवा पेली वह मर जावे तो है बलिहार
के मरणो जाणणो।

मरते तो सभी हैं, लेकिन मरने मरने में बडा फर्क होता है। इसलिये मरना जानना यह बहुत बडी बात होती है। जो मरने से पहले ही मरने की तैयारी कर लेता है, वही हकीकत में मृत्यु को जीत लेता है और अमरता को प्राप्त करता है। मृत्यु की कमजोरी को यदि आप भी पकड ले तो आपका आत्मबल दुगुना हो जायगा। जब तक शत्रु का भेद नहीं मिलता है तभी तक उससे भय होता है, लेकिन भेद मिलते ही तो वह बच्चे के समान मालूम देता है। इसी तरह मृत्यु का भेद यह है कि वह आवे उससे पहले आप उसे लेने चवले जाओ तो उसका भय बिल्कुल नहीं रहेगा। यही मरना जानना और पडित मरण है।

मृत्यु नही खाती,
मृत्यु का भय खा जाता है

ऐसे कई मनोवैज्ञानिक तथ्य घटित हुए हैं कि जब मृत्यु के काल्पनिक भय से व्यक्त्यिो ने अपनी जीवन लीला समाप्त कर दी। मैंने एक बार एक वैज्ञानिक

प्रयोग की बात सुनाई थी कि डॉक्टरो की राय मे बहुत वर्षो तक जिन्दा रह सकने वाला एक स्वस्थ केवल मन के मृत्यु-भय से चन्द मिनिटो मे ही खत्म हो गया। हकीकत मे मनुष्य को मृत्यु नही खाती, मृत्यु का भय उसे खा जाता है।

ज्ञानियो और अज्ञानियों मे यही तो अन्तर होता है कि ज्ञानी मृत्यु के स्वरूप को और मृत्यु भय की दुर्बलता को समझते हैं इसलिये उससे कभी भयभीत नही होते। वे सोचते हैं कि समभाव से पडित मरण के साथ मरना तो गौरवप्रद है। मौत कभी भी आवे–उनको कोई डर नही होता और इस कारण वे सदा प्रसन्नतापूर्वक रहते हैं। इसके विपरीत अज्ञानी मृत्यु से पहले ही कई बार मरता रहता है–मृत्यु भय की चपेट मे आता रहता है। इसका कारण यह है कि जिन व्यक्तियों के साथ उसका ममत्त्व होता है, जिन पदार्थो मे उसकी आसक्ति होती है, उन व्यक्तियो और पदार्थो के लगाव से एक अज्ञानी दु खी होता रहता है और मृत्यु के पहले ही मरता रहता है।

मृत्यु से पहले ही मृत्यु को पराजित कर देना

ससार की विशिष्ट विभूतियो का जागृत जीवन ऐसा हो रहा है कि वे मृत्यु से पहले ही अपनी निर्भीकता से मृत्यु को पराजित कर देते थे। श्रावक लोगो के विशिष्ट चरित्र अपने सामने हैं कि वे मृत्यु के समय से पहले ही मरण अवस्था को –उसकी पयार्य को जीवन मे अगीकार कर लेते थे। आनन्द जी महावीर भगवान् के प्रमुख श्रावको में से थे। जब उन्होंने देखा कि उनके पुत्र सासारिक कार्यो को चलाने मे समर्थ हो गये हैं तो वे ससार के ममत्त्व से दूर होते गये। वे जानते थे कि पडित मरण से उन्हे अपना अन्तिम समय सुधारना है इसलिये उन्होंने एक सामूहिक भोज रखा, सारे सगे सबधियों को निमत्रित किया तथा उन्हे सूचित किया कि वे ससार से निवृत्ति ले रहे हैं सो अब वे हर बात उनके पुत्रो से पूछे। वे तो बाल मरण से दूर हटकर धर्म साधना में लग गये। जब वे मृत्यु के समीप जाने लगे तो उन्होने मृत्यु से पहले ही मृत्यु को पराजित कर देना उचित समझा। उन्होंने सथारा अगीकार कर लिया। सथारा वह व्रत है जो मृत्यु को खुली चुनौती देता है। सथारे मे ही उनको व्यापक अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई है, जिसे गौतम स्वामी भी पहली बार नहीं समझ पाये और फिर भगवान् महावीर ने उन्हे सही दिशा बताई। ऐसे थे आनन्दजी श्रावक, जिन्होने मृत्यु पर विजय प्राप्त की।

जो विषय, कषाय एव अठारह पापो का परित्याग करके साधु जीवन को अगीकार कर लेते हैं, उन्हे यदि उस स्थिति मे अप्रमत्त अवस्था आ जाय तो फिर उन्हे मृत्यु से क्या – किसी से भी कोई भय नही रहता। शास्त्रीय वाक्य है कि "अप्रमत्ताय कुतो भय" अर्थात् जिसने प्रमाद छोड दिया है, उसको कैसा भय ?

निरन्तर आत्म साधना में चलने वाले पडित मरण की सुखद अवस्था मे पहुँच जाते हैं। ऐसी अवस्था जिनको आ जाती है, उनका साधु जीवन पवित्र बन जाता है और उनकी साधना विशिष्ट रूप से बलवती हो जाती है।

स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलाल जी म सा ने भयकर अवस्था में भी कैसी क्षमा, सहनशीलता तथा साहसिकता का रूप इस जगत् के सामने उपस्थित किया, वह अद्भुत था। श्रमण सघ का नेतृत्व उन्होने स्वीकार किया तो इसी भावना से कि ज्ञान दर्शन चरित्र का विकास होगा। उस दृष्टि से उन्हें सतोष नही हुआ तो उन्होने उस स्थिति का मुकाबिला किया। उसी समय पजाबी मुनि मदनलाल जी, सत्येन्द्र मुनि जी और पद्मसेन जी म सा ने आचार्य श्री के क्रान्तिकारी निर्णय को प्रश्रय दिया। जब आचार्य श्री की अन्तिम अवस्था का प्रसग आया, उस समय बडी कठिन वेला थी। उधर श्रमण सघ की उलझी हुई गुत्थियाँ, इधर शारीरिक वेदना–चारो ओर के दूषित वायुमण्डल मे सम्पूर्ण धैर्य एव शान्ति के साथ वे पडित मरण को प्राप्त हुए–यह इस आधुनिक युग मे आश्चर्यजनक तथ्य था। आचार्य श्री मे कितना आत्मबल और साहस था, डॉक्टर उनकी निर्भीक दशा देखकर चकित रह जाते थे। उदयपुर के डॉक्टरो ने तो यहाँ तक कह दिया कि आचार्य श्री के सम्बन्ध मे हमारी चिकित्सा की थ्योरी तो फेल हो गई है। वे तो अपने ही आत्म बल से ध्यान और चिन्तन मे मग्न हैं। कहते हैं कि आचार्य श्री के समान ही वेदना अमेरिका के एक पोप को हो गई थी जिसने जहर का इजेक्शन देकर अपने जीवन को समाप्त कर देने का आग्रह किया, वहाँ आचार्य श्री उस वेदना के साथ भी प्रसन्न बने रहते थे। इतनी वेदना के समय इतनी प्रसन्नता शायद ही कहीं देखने को मिले। तब लोगों ने उनसे आग्रह किया कि हमारे लिये व्यवस्था दे जाइये। वह व्यवस्था भी उन्होने दी–उस वक्त वे कितने शान्त और गभीर रहे– यह ऐतिहासिक तथ्य है।

ऐसी महान् आत्मा के पडित मरण का प्रसग समुपस्थित हुआ। मृत्यु से पहले ही वे मृत्यु को पराजित कर चुके थे।

जिनकी मृत्यु में जीवन अमर हो जाता है।

ऐसी महान् आत्माओं की मृत्यु में स्वय मृत्यु लज्जित होती है तो जीवन अमर हो जाता है। जीवन मे जो उनकी विकसित गुणशीलता होती है, वह मृत्यु के बाद अधिक सुवासित होकर चारो ओर प्रसारित हो जाती है। इस रूप मे वे आत्माए वह जीवन जी लेने के बाद यशोमय नये जीवन में प्रविष्ठ हो जाती हैं। वे महान् विभूतियाँ उस सुयश के साथ अमर हो जाती हैं तथा उनका जीवन-सन्देश

युगों-युगों तक वायुमडल में गुजता रहता है।

स्वर्गीय आचार्य श्री का ऐसा ही जीवन था और है। उनके पडित मरण की अवस्था को देखने वालो में ये सन्त सत्येन्द्र जी, पद्मसेन जी, लखपत जी उदयुपर मे मौजूद थे। इन वर्षो में पद्मसेन जी म को हार्ट की तकलीफ बढ गई, बीच-बीच में उनके स्वास्थ्य के समाचार मिलते रहते थे और कल समाचार मिला कि उनका स्वर्गवास हो गया। उनका जीवन आद्योपान्त तो मुझे ज्ञात नहीं है लेकिन उनका जितना सम्पर्क मुझे मिला, उस सम्पर्क की स्थिति से मैं समझता हूँ कि उन्हें पंडित मरण प्राप्त हुआ होगा। अभी विस्तृत समाचार आये नहीं हैं, किन्तु ऐसी आत्मा चतुर्विध सघ के बीच मे से उठ जाती है तो भौतिक शरीर की दृष्टि से बडी क्षति होती है लेकिन उनके सद्‌गुणों को साधु जीवन की साधना को समझ करके सभी को यथासाध्य त्याग वैराग्य की भावना अपने जीवन मे अपनानी चाहिये।

आध्यात्मिक साधना के समय मृत्यु में जीवन की अवस्था को समझ करके मृत्यु भय से ग्रस्त न बनकर जो साहस और धैर्य के साथ जीवन को आगे बढाते हैं, वे अपनी शत्रुता के साथ वीतराग देव के शासन को दीपाते हैं। प्रभु महावीर के शासन की विशेषता है कि यहा व्यक्ति को नही, व्यक्ति के गुणो को महत्त्व दिया जाता है। उनका शासन गुणपूजक शासन है। गुणो की दृष्टि से – साधु जीवन की उत्क्रान्ति की दृष्टि से जितने साधक चलते हैं, वे सब एक रूप होकर चलते हैं चाहे किसी का जन्म कहीं हुआ हो और पला पोषा कहीं हो। गुण साम्यता सबको एक सूत्र मे जोड देती है।

प्रभु महावीर का सिद्धान्त गुण प्रधान है और कर्म प्रधान है, इसलिये गुण और कर्म की प्रधानता से प्रसग आ जाता है। ऐसे प्रसग पर पडित मरण का अवसर उपस्थित होता है। ऐसे पडित मरण मे जहाँ साधक की मृत्यु मे भी उसका जीवन अमर हो जाता है तो वह पडित मरण भी भव्य आत्माओ को जीवन्त प्रेरणा दे जाता है।

मृत्यु भय से मुक्त होइये,
जीवन सुखद बन जायगा

पडित मरण के साहस और आदर्श को समक्ष रखकर श्रोताओं को चाहिये कि वे भी मृत्यु के स्वरूप को पहिचाने, मृत्यु की अवस्था को समझें तथा मृत्यु के भय से मुक्त हो जावे। ध्यान रखिये, मृत्यु आपकी आत्मा की नहीं होती है। मृत्यु के लिये आपकी आत्मा अजेय है, फिर मृत्यु से आप क्यो भयभीत बनते हैं ?

आत्मा जितनी शक्तिशाली होती है, उतनी शक्ति मृत्यु की अवस्था मे नहीं

है। क्या मनुष्य अपने हाथ से डर सकता है ? जो मनुष्य अपने हाथ से डरता ? है तो समझना चाहिये कि उसने हाथ के रूप को नही समझा है। हाथ पिंड का रूप है, वैसे ही मृत्यु आत्मा की ही अवस्था का रूप है। इससे डरने की कतई जरूरत नहीं है। इससे सघर्ष करने के लिये खडे हो जायेगे तो मृत्यु दूर भागेगी। आपकी आत्मा अजर अमर अखिलेश बनेगी। आत्मा की अजर अमर अवस्था इसी दृष्टिकोण से है और इसी दृष्टिकोण से साधना का प्रसग है। इस साधना को साधते हुए सन्त सभी प्रकार के प्रपचो से दूर रहते हुए अपनी मर्यादाओं को अक्षुण्ण रखते हैं तो गृहस्थ भी यह चितन करे कि हम भी आनन्द श्रावक के समान श्रावक अवस्था में-पवित्र साधना साधे। यह पवित्र साधना साध जायगी तो मृत्यु भय से मुक्ति मिल भी जायगी।

नोखा
१८ ९ ७६

5

आत्मा का प्रेम, आत्मा का प्रीतम

ऋृषभ जिनेश्वर प्रीतम म्हारा,
और न जानू रे कन्त

प्रभु ऋृषभदेव को यह आत्मा अपनी पवित्र बुद्धि मे लावे – ऐसी यह प्रार्थना प्रेरणा दे रही है। जब तक सद् विवेक जागृत नही होता है, बुद्धि के अन्दर अच्छी बाते प्राय कम ही आया करती हैं। तब ज्यादा करके इस बुद्धि के पटल पर नाशवान तत्त्वो के सासारिक दृश्य तथा विभिन्न रूप रग की कल्पनाएँ ही उभरा करती हैं। जिन-जिन कल्पनाओ को बुद्धि अपने भीतर स्थान देती है, उन-उन कल्पनाओं के अनुरूप अपने जीवत वृत्त को भी ढालने का वह प्रयास करती है। इस प्रकार की प्रक्रिया इस आत्मा की चद दिनो या वर्षो से ही नहीं, अनादिकाल से चली आ रही है। उसके परिणामस्वरूप इस विराट् जगत् मे – उसकी विभिन्न योनियो मे परिभ्रमण करती हुई यह आत्मा अनेक प्रकार की विपत्तियो एव विषमताओ से टकराती रहती है और घोर कष्ट पाती रहती है।

इन कष्टों से छुटकारा पाने के लिये ही प्रभु के चरणो मे पहुँचने का विचार इस आत्मा में जागता है, वह प्रभु की प्रार्थना करती है और प्रभु के साथ अपने अन्त करण का प्रेम सजोती है। इस वेला मे उसे अपनी भीतरी प्रेम का आह्लादकारी अनुभव होता है। वह आत्मा प्रभु को प्रीतम के रूप में तव पा लेने को आतुर बन जाती है और वैसी ही आतुरता तथा आन्तरिकता के शब्द हैं – "ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम म्हारा, और न जानू रे कन्त ''। प्रेम का प्रतीक शब्द 'प्रीतम' इतना मधुर और हृदयग्राही होता हे कि आध्यात्मिक जगत् ने भी प्रभु के प्रति आत्मा के प्रेम को इसी शब्द से व्यक्त किया है। प्रभु के स्वरूप के प्रति जव आत्मा सपूर्ण रूप से समर्पित हो जाती है तभी उसे प्रभु प्रीतम के रूप मे दिखाई देते हैं। आत्मा का प्रेम तब उच्च कोटि का ही नहीं होता है, बल्कि उच्च रसायन वाला भी होता हे।

प्रभु का स्वरूप, इन्द्रियो की ग्रहणशीलता

प्रभु का स्वरूप इन्द्रियातीत होता है। इन्द्रियातीत उस विषय को कहते हैं जो इन्द्रियो की समझ से परे हो। वस्तुत बुद्धि की गति भी जहाँ अतीत होती है, वहाँ प्रभु के स्वरूप का आभास मिलता है। ऐसा आभास लेने के लिये आध्यात्मिक जगत् का विज्ञाता इस जीवन को उस रूप मे रखने की कोशिश करता है, लेकिन जिनके समक्ष परम पवित्र परमात्मा के स्वरूप को रखने का अवसर है, वे मानव इतनी घटित बुद्धि नही रखते हैं। वे तो ससार के स्थूल दृश्यो को देखते हैं इस कारण उनका जीवन और उनकी बुद्धि उन्ही दृश्यो के अनुरूप स्थूल बनी रहती है। प्रतिदिन के व्यवहार से सम्बन्धित उन का जीवन होता है और उस जीवन के अनुरूप तथा उस व्यवहार के तुल्य यदि कोई बात कही जाती है तो वे मानव ठीक तरह से उस बात को ग्रहण कर पाते हैं, वरना उनकी बुद्धि से परे का तत्त्व उनको सहज में ग्राह्य नहीं होता है।

आध्यात्मिक विज्ञान के विज्ञाता इस कारण ऐसी ही कोशिश करते हैं कि प्रभु के स्वरूप वर्णन एव आध्यात्मिक रसानुभूति को भी जन साधारण के व्यवहारिक विचारो के साथ जोड करके उनकी आन्तरिक शक्ति को जगावें। कवि आनन्दघन जी ने प्रार्थना की पक्तियो मे जिन शब्दो का उच्चारण किया है, वह उच्चारण सर्व साधारण के व्यवहार की जागृति के तुल्य ही ज्ञात हो रहा है। शब्द रचना भी वैसी ही है जिससे कि सामान्य बुद्धि वाला भी प्रभु के प्रति आत्मा के प्रगाढ प्रेम को समझ जावे और स्वय भी उस आध्यात्मिक प्रेम मे अपनी आत्मा को रगने की वह चेष्टा करने लगे। इस प्रकार प्रभु के सूक्ष्म स्वरूप को इन्द्रियो और बुद्धि की ग्रहणशीलता की सीमा में लाने का प्रयास किया गया है।

जहाँ ऋृषम जिनेश्वर को "प्रीतम म्हारा" कहा गया है, उसका क्या अर्थ है ? क्या प्रभु प्रीतम के तुल्य है ? जानते हैं, प्रीतम किसको कहते हैं ? प्रीतम शब्द से अपरिचित शायद ही कोई होगा। सभी भाई और बहिन इस शब्द के अर्थ को समझते हैं। प्रचलित भाषा मे प्रीतम को पति के रूप कहा जाता है और पति के रूप को कौन नही जानता ? जहाँ तक व्यवहारिक क्षेत्र का प्रसग है, 'पति' शब्द पुरुषो के लिये व्यवहृत होता है। सामान्य जन यह सोचता है कि वहिने जव शादी करके पहुँचती हैं तो वे पति के रूप मे वर करके ससुराल से सम्बन्ध स्थापित करती है। जान करके पत्नि पति को वरती हे। कवि ने इस आध्यात्मिक रस को इस परिभाषा मे ढाल दिया है और कहा कि आत्मा पत्नि रूप है और वह प्रभु को पति के रूप में वर ले तो वह उसके लिये ऐसा प्रीतम सिद्ध होगा जो उससे कभी भी विलग नही होगा। सदा सयोग बना रहेगा याने की आत्मा प्रभु सा प्रीतम प्राप्त

करके अखड सौभाग्यवती बन जायगी। ससार की अवस्था मे तो संयोग के साथ वियोग लगा हुआ रहता है, लेकिन आध्यात्मिक जगत् में एक बार स्वस्थ सयोग स्थापित हो जाता है तो वहाँ पर वियोग की स्थिति नही आती।

प्रभु के स्वरूप को इस रूप मे समझाने का अभिप्राय यह है कि सामान्य जन की इन्द्रियाँ भी और बुद्धि भी उस सूक्ष्म स्वरूप को ग्रहण कर सके। व्यवहार मे प्रीतम का जैसा मधुर सबध होता है, उससे भी अधिकतम मधुर सबध आत्मा का प्रभु से हो सकता है। पत्नि जब अपने प्रीतम का ध्यान करती है तो वह सब कुछ भूल जाती है – उसके तन मन मे अकेला प्रीतम बसता है। उसी प्रकार जब आत्मा प्रभु के स्वरूप चिन्तन मे तन्मय बन जाती है तो उसके लिये सारा ससार प्रभुमय-प्रीतममय हो जाता है।

क्या आपकी आत्मा-चेतना भी प्रभु से ब्याह रचाना चाहती है ?

इस ससार की दशा के रूप मे यदि मानव आध्यात्मिक जीवन की सरिता मे बहना चाहे तो उसकी अनादिकालीन वृत्ति भी कायम रह जाय, लेकिन स्थिति भिन्न बन जाय। अनादिकालीन वृत्ति से तात्पर्य है कि अनादिकाल से ऐसा सम्बन्ध एक वक्त नही, अनन्त वक्त जुडा है, किन्तु उसमे स्थिरता नहीं आई आत्मा प्रभु के स्वरूप चिन्तन मे सपूर्णतया निमग्न नही बनी। ऐसी निमग्नता आ सकती है एकरूपता की आकाक्षा के दृढ बनने से। उसके लिये प्रभु को प्रीतम मान ले तो क्या आपकी आत्मा – आपकी चेतना भी प्रभु के साथ ब्याह रचाना चाहती है ? प्रभु को प्रीतम बनाकर क्या वह अखड सौभाग्यवती बन जाना चाहती है ?

लौकिक विवाह मे आप जैसी रूचि रखते हो, उससे भी अधिक जागृति इस आध्यात्मिक सम्बन्ध में ले आवे और एक बार प्रभु से सम्बन्ध जुड जाय तो फिर बुद्धि की तन्मयता स्वयमेव घनिष्ठ बन जायगी। एक बार इस आत्मा ने परमात्मा के साथ अपना सम्बध जोड लिया तो फिर ससार के लुभावने दृश्य आपकी बुद्धि को आकर्षित नहीं कर पायेगे। फिर तो परमात्मा का रग ही इस आत्मा पर चढने लगेगा। तब आत्मा के लिये उसका प्रीतम ही एक मात्र साध्य रह जायगा।

मेवाड की मीरा का नाम आपने सुना होगा। श्रीकृष्ण के प्रति उसकी भक्ति विख्यात रही है। श्रीकृष्ण की भक्ति मीरा ने प्रीतम भाव से ही की थी। यह मीरा की टेर थी –

परणू तो प्रीतम प्यारो।
अखड सुहाग हमारो ।।

मेवाड के महाराणा के साथ मेडता की राजकन्या मीरा का विवाह हुआ था। व्यवहार की दृष्टि से राजा को उसका प्रीतम बनाया गया था, लेकिन उसकी आत्मा का सम्बन्ध श्रीकृष्ण रूप प्रीतम से जुड गया – "मीरा के तो गिरधर गोपाल, और कोई नहीं।" राणा के राजभवन मे वह अपने इस प्रीतम का ही चिन्तन करती थी। राणा ने बहुत प्रयास किया कि वह उनकी ओर आकर्षित हो – ऐसे-ऐसे भी उपाय भी किये कि वह अपनी भक्ति से हट जाय, लेकिन उसने तो योगिनी की तरह ही रहना शुरू कर दिया। राजकीय वैभव और शान की परवाह उसने छोड दी – श्रीकृष्ण की भक्ति मे वह पैरों मे घुघरू बाध कर मन्दिरो में तन्मय होकर नाचती।

प्रीतम के साथ वास्तव में ऐसा ही एकाकार सम्बन्ध जुड जाता है और प्रीतम स्वय परमात्मा हो तो फिर कोई भी विकासशील आत्मा कितनी एकाग्र और तल्लीन बन सकती है उनकी भक्ति मे – उनकी प्रार्थना मे – यह उसके परिणामो की उच्चता पर निर्भर करता है।

प्रेम की पराकाष्ठा होती है – सर्वस्व का समर्पण

मीरा का यह व्यवहार महाराणा को अच्छा नही लगा। एक दिन अचानक वे मीरा के कक्ष मे गये तो यह देख कर वे स्तब्ध रह गये कि वहॉ कोई सजावट नहीं थी, कोई श्रृगार सामग्री नही थी और यहॉ तक कि पलग भी नहीं था। मीरा तो चटाई बिछाकर जमीन पर सोती थी। तब महाराणा ने मीरा के सामने कई प्रश्न रखे और उनका वह उत्तर देती रही। मीरा ने अन्त मे कहा – राणाजी, आप चाहते हैं कि मैं आप के कथनानुसार व्यवहार करू, आपको प्रीतम मान कर अपना सर्वस्व समर्पित कर दू तो यह भी मैं कर लूगी, लेकिन मेरी एक छोटी सी शर्त है। राणाजी तो किसी भी शर्त पर मीरा का प्रेम प्राप्त करना चाहते थे। वे शर्त मानने को तैयार हो गये। मीरा ने कहा – आप मुझको यह वचन देदे कि आप मुझे कभी भी विधवा नही बनायेंगे, मुझे छोडकर नहीं चले जायेगे। महाराणा इसका क्या उत्तर देते ? क्या यह उनके हाथ मे था ?

आपने भी विवाह किया तब क्या ऐसी प्रतिज्ञा की थी ? ऐसी प्रतिज्ञा करते तो विवाह सम्बन्ध ही नहीं जुडता। महाराणा की यह क्षमता कहॉ थी ? वे वोले – ससार के सम्बन्ध मे रहते हुए ऐसी वात कैसे बन सकती है ? तो मीरा वोली – मैं तो परणू प्रीतम प्यारो, अखड सौभाग्य हमारो। वास्तव मे जिसने अविनाशी पति के साथ अपना प्रेम सम्बन्ध जोड लिया हो, वह आत्मा ससार के नाशवान पदार्थो से अपना सम्बन्ध कैसे बनाये रख सकती है ? वह तो प्रभु के प्रेम मे तन्मय हो

जाती है।

मीरा की कहानी आपने सुनी, लेकिन भीतर से आपकी मीरा क्या कहती है – उसको भी तो सुनिये। वह तो मेडता की मीरा थी। आपकी मीरा तो भीतर ही बैठी हुई है – आप अपनी अन्तर्चेतना को पूछिये कि वह किसके साथ विवाह करना चाहती है – अपना अमर प्रेम सम्बन्ध जोडना चाहती है ? आपकी आत्मा अभी भी नाशवान तत्त्वो से लिप्त रहना चाहती है अथवा अब अविनाशी को वरना चाहती है ? यदि उस अविनाशी को वरना है, प्रभु से प्रेम सम्बन्ध जोडना है तो आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश करिये। आपकी शादी की मुराद खत्म नहीं की जा रही है, बल्कि पूरी तरह स्थायी रूप मे जोडी जा रही है। नाशवान तत्त्वो के साथ सम्बन्ध स्थापित करते-करते तो कभी भी इस आत्मा को तृप्ति नही हुई है – विराम नही मिला है, अब अविनाशी से नाता जोडकर देखिये कि इस आत्मा को कैसा अमित आनन्द प्राप्त होता है ?

प्रेम की पराकाष्ठा होती है – सर्वस्व का समर्पण। आप अपना सर्वस्व प्रभु के चरणो मे समर्पित कर दीजिये, फिर अनुभूति लीजिये कि यह आत्मा अपने प्रीतम परमात्मा से किस रूप मे एकाकार हो जाती है ? प्रेम का पथ ऐसा होता है, जहॉ पर पहले अपना सब कुछ दे दे तो फिर सब कुछ मिल जाता है।

लौकिक प्रेम तो बहुत देखा, अब अलौकिक प्रेम देखे

एक व्यक्ति व्यापार करने जाता है और देखता है कि उस व्यापार मे अच्छा मुनाफा नहीं मिल रहा है तो वह शीघ्र उसे छोडकर दूसरा व्यापार शुरू कर देता है – घाटा खाकर एक ही व्यापार मे नही लगा रहता है। घाटे वाले व्यापार से उसको ऊब आ जाती है। तो क्या लौकिक विवाह के प्रसग से आपको कभी ऊब नही आती है ? वियोग देने वाले से भी सम्बन्ध जुडता है ओर वियोग नहीं देने वाले से भी सम्बन्ध जुड सकता है। लेकिन लौकिक सम्बन्ध के साथ वियोग की स्थिति तो जुडी हुई ही रहती है। फिर भी एक क्षण के लिये यह मान ले कि वियोग नहीं हुआ, तब भी क्या इस लौकिक सम्बन्ध मे सदा शान्ति मिलती है ? यह अपने दिल से पूछिये। कितना कुछ करना पडता है और कितना कुछ भुगतना पडता है ? मनुष्य चाहे कितनी ही मूछ ऊँची रखता हो – बाहर जोश दिखाता हो, मगर घर मे पहुँचता है तो गर्दन नीची करके पत्नि की सभी आज्ञाओं को शिरोधार्य करता है। इस आत्मा से पूछें कि क्या उनका यह जीवन उनके पुरुषत्व के अनुसार चल रहा है ? इस बारे में आप स्वय चिन्तन करें और अपना बोध ग्रहण करें।

लौकिक प्रेम तो आपने बहुतेरा देखा है – इस जन्म में ही नहीं, जन्म

जन्मान्तरो में देखा है और अन्त में उसके कटु अनुभव भी देखे हैं, फिर भी उन कटु अनुभवो से शिक्षा ग्रहण नहीं की जा सकी है। इस मानव जीवन मे उससे अब भी शिक्षा ग्रहण करे तो सुअवसर सामने है। आत्मा अब अलौकिक प्रेम की साधना करे और सासारिक बन्धनो से मुक्त होकर निराकार प्रभु की आराधना करे तो वह अपनी गति को नई और सुनहरी दिशा में मोड सकती है।

लौकिक प्रेम नाशवान तत्त्वो के साथ होता है तो उस प्रेम के भी नाश होने मे कोई शका नहीं। ऐसे प्रेम में सपूर्ण मधुरता हो ही कैसे सकती है जो नाश होने वाला है। सपूर्ण मधुरता नहीं तो सर्वस्व का समर्पण भी सभव नहीं होता है और सच्चा व ऊँचा प्रेम एक ही बात मागता है कि प्रेम की वेदी पर सर्वस्व का समर्पण कर दिया जाय। यह सर्वस्व का समर्पण अलौकिक प्रेम मे ही सहज और सुखद होता है क्योंकि उसका परिणाम सदा सुखद ही होता है। आत्मा अपने अलौकिक प्रेम का स्वय अनुभव लेकर ही रसास्वादन कर सकती है – उसका रस कहकर नही बताया जा सकता। आत्मा की परमात्मा से एक कडी जुड जाती है – एक लौ लग जाती है तो वह अलौकिक प्रेम अमित आनन्द का अखड स्रोत बन जाता है।

प्रेम की परिणति
बन्धनो से मुक्ति मे

ऋषमदेव भगवान् का सन्देश है कि हे भव्यो, ससार के बन्धनो को समझो। ये बन्धन तुम्हारी आत्मा के लिये कितने घातक और उसकी शान्ति के कितने बाधक हैं – इस तथ्य की समीक्षा करो। समीक्षा से तुम्हें समझ में आयगा कि नाशवान पदार्थो से जितना प्रेम किया, वह सदा बन्धन का कारण बना और बन्धन सदा दु खों का कारण होता है। अगर प्रेम से दु ख पैदा हो तो वह प्रेम ही कैसे कहलायगा ? वह प्रेम हकीकत मे प्रेम नहीं है। प्रेम सुख का कारण होना चाहिये और वैसा प्रेम अविनाशी प्रीतम से ही हो सकता है। यह प्रेम सम्बन्ध इसलिये सदैव सुखदाई बना रहता है कि यह प्रेम सच्चा होता है ओर सभी प्रकार के बन्धनो से मुक्ति दिला देता है।

आपके मन मे प्रश्न उठता होगा कि इस अविनाशी तत्त्व से प्रेम सम्बन्ध कैसे स्थापित करे ? आप कहेगे कि हम अविनाशी पति को भी वर ले, लेकिन वह पति सामने तो आवे। आप परमात्मा को सामने देखना चाहते हैं, लेकिन वादा करिये कि सामने देख लेगे तब तो अवश्य वर लेगे न ? अभी वादा करने मे कच्चापन दिखाई देता है। परमात्मा को सामने कोई दूसरा नहीं लावेगा, आपकी आत्मा ही उसको आमत्रण देगी, उसे अपने हृदय के सिहासन पर बैठायगी और उससे साक्षात्कार करके उसको अपना प्रीतम बनायगी। यह सारा कार्य भीतर ही

भीतर चलेगा। उस कार्य को करेंगे भी आप और आनन्द का अनुभव भी लेंगे आप। आप स्वय अपनी बुद्धि से ही उस परमात्मा का स्मरण करेगे, उसके स्वरूप को समझेगे तथा चेतना को जागृत बना कर उसके स्वरूप से अपने स्वरूप को जोड देगे, तभी उस अविनाशी से आपका प्रेम सम्बन्ध जुड जायगा।

आत्मा जागे और अपने प्रीतम से मिले

अभी आपको कितनी ही सावधानी दिलाई जाय, लेकिन आपकी आत्मा के जागृत हुए बिना न अविनाशी प्रेम का महत्त्व समझ मे आयगा और न ही अपने अविनाशी प्रीतम से मिलने की लगन लगेगी। अभी आप शरीर की दृष्टि से जग रहे हैं तो चेतना सो रही है। चेतना जगेगी उस रोज रूपक ही दूसरा बन जायगा। फिर आपको ससार की यह विषमता भयावह लगेगी और आप अपने जीवन के स्वय स्वामी बन जायेगे। यह आत्मा कोई और नहीं है और उसका प्रीतम कोई दूसरा नहीं है। यह आत्मा स्वय से प्रेम करना सीखेगी तो स्वय के स्वरूप को उज्ज्वल बनायगी। उत्कृष्टतम उज्ज्वलता का इसी आत्मा का स्वरूप परमात्मा के स्वरूप को वरण कर लेगा।

ऐसा अद्भुत और अलौकिक होता है आत्मा का प्रेम और आत्मा का प्रीतम। इस प्रेम का रसास्वादन कर लेने के बाद अनश्वर सुख तथा अमिट शान्ति से आत्मा ओत-प्रोत बन जाती है।

नोखा
२० ९ ७६

6

बुद्धि की गति विपरीत दिशाओं में

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम म्हारो,
और न जाणू रे कन्त

प्रार्थना की पक्तियो के माध्यम से परमात्मा के चिन्तन का प्रसग भव्य मुमुक्षुओ के लिये उपस्थित है। कवि आनन्दघन जी ने जिस सरल पद्धति से सकेत दिया है, उस रूपक से प्रभु के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है। लेकिन जितना रूपक आकर्षक है, वस्तु स्वरूप को तात्विक दृष्टि से हृदयगम करना उतना आसान नहीं है। यह विषय कुछ कठिन अवश्य है, किन्तु यदि इस कठिन विषय को भी अन्त करण में उतारने की कोशिश करे तो वह सहज बन सकता है।

वैसे किसी भी महद् कार्य का प्रारभ कठिन ही हुआ करता है। विद्याध्ययन को ही ले – वह भी प्रारभ में छोटे बच्चो के लिये दुष्कर होता है। लेकिन जैसे ही बच्चे उसमें गति करने लगते हैं, कुछ समय तक तो उनकी वृत्ति लकीरे खीचने में रहती है, पर बाद मे वे अक्षरों को सीख कर सयुक्ताक्षर और वाक्यावलि लिखने लग जाते हैं।

किसी भी श्रेष्ठ कार्य मे सफलता या असफलता बुद्धि की गति पर निर्भर करती है। अगर बुद्धि उस कार्य को करने के लिये उस कार्य की गतिविधि मे केन्द्रित हो जाती है और सक्रिय बन जाती है तो वहाँ सफलता मिल जाती है। परन्तु कार्य तो शुरू कर दिया और बुद्धि विपरीत दिशा मे भटकती रहती है तो उस कार्य में गति ही नही आती है – सफलता तो दूर की बात है। बुद्धि के केन्द्रित होने मे भी उसकी एकाग्रता के अनुसार सफलता की उत्कृष्टता प्राप्त होती है। इसका अभिप्राय यह है कि बुद्धि की गति विपरीत दिशाओ मे चलती है। जब वह प्रतिकूल दिशा मे चले और उसे जब तक अनुकूल दिशा की ओर न मोड सके, तब तक हाथ में लिये हुए काम की कामयाबी सदिग्ध ही रहती है। इसलिये

किसी भी कार्य की सफलता का रहस्य होता है उसमे बुद्धि को अनुकूल दिशा के साथ लगाना, अभ्यास बढाना तथा उसमे एकाग्रता लाकर उसे उग्र वेग से सक्रिय बना देना। मूल मे बुद्धि की गति पर आत्म-नियत्रण स्थापित हो जाने की आवश्यकता रहती है।

बुद्धि का नियोजन, केन्द्रीकरण एव अभ्यास

किसी वाछित कार्य मे बुद्धि को लगावें तो उस कार्य में अभिरूचि बढती है। जब बुद्धि को उसमे केन्द्रित बनावे तो कर्म के क्षेत्र मे उतरना आसान हो जाता है। उसके बाद प्रारभ मे अभ्यास की साधना करनी पडती है जिससे कार्यशीलता गतिमान बन जाय। आत्म-साधना और विद्याध्ययन के सिवाय व्यवहारिक कार्य को भी ले ले तो उसकी सफलता के लिये भी बुद्धि का नियोजन, केन्द्रीकरण एव अभ्यास आवश्यक होता है।

दैनिक व्यवहार का छोटा सा छोटा कार्य भी बुद्धि का नियोजन मागता है। भोजन सरीखा कार्य भी नये व्यक्ति के लिये प्रारभ मे कठिन होता है लेकिन उचित अभ्यास के साथ वह सुगम बनता जाता है। व्यवहारिक कार्यों मे प्रारभ मे कठिनाईयो का अनुभव करते हुए भी बुद्धि के माध्यम से जब उन्हें सुगम बना लिया जाता है तो क्या उसी बुद्धि का नियोजन जीवन के आन्तरिक स्वरूप को अनावृत्त करने के पुण्य कार्य मे नही किया जा सकता है ? आतरिक शक्ति को विकसित बनाने की भावना से जब बुद्धि का नियोजन, केन्द्रीकरण इस दुरूह विषय में भी किया जायगा एव अभ्यास साधा जायगा तो यह कार्य भी सहज प्रतीत हो जायगा। बुद्धि को अनुकूल दिशा मे लेकर भगवान् ऋृषभदेव को प्रीतम की दृष्टि से लें। जैसा रूपक मे प्रीतम का स्वरूप प्रकट किया है, वैसा रूप आध्यात्मिक क्षेत्र में परमात्मा का प्रकट नही है, इसलिये इस विषय में जिज्ञासुओ को कठिनाई महसूस होना स्वाभाविक है। वे प्रारभ मे यह प्रश्न कर सकते हैं कि एक शरीरधारी व्यक्ति से दूसरे शरीरधारी व्यक्ति का सपर्क तो जल्दी से सध सकता है, लेकिन एक शरीरधारी व्यक्ति का शरीररहित परमात्मा से सम्पर्क कैसे सधे ? उन का यह कहना होता है कि वह स्वरूप यदि हमारे समक्ष अभिव्यक्त हो जाय – प्रकट हो जाय तो हम उसे साध सकते हैं।

इस प्रश्न का उत्तर कठिन अवश्य लगता है, लेकिन बुद्धि को तीनों प्रकार से साधे तो शरीररहित की साधना भी सहज हो सकती है।

परमात्म-स्वरूप की समीपता बुद्धि की चिन्तन धारा मे

बुद्धि की चिन्तन धारा मे उपरोक्त प्रश्न समा जाय तो न केवल परमात्म स्वरूप की समीपता समझ मे आ जावेगी बल्कि उस समीपता की सुखद अनुभूति भी होने लगेगी। आइये, इस चिन्तन धारा मे थोडा प्रवेश करे तो सहज रूप से ज्ञात होगा कि एक शरीरधारी व्यक्ति अपने शरीर मे रह अवश्य रहा है – शरीर को वह प्रकट रूप में देख रहा है, लेकिन बाहर की इन चमडे की आखों से उसका शुद्ध स्वरूप नहीं देख पा रहा है। शरीर के प्रत्येक कार्य के साथ एक ज्योति प्रकट हो रही है, फिर भी उस ज्योति को देखने में कठिनाई का अनुभव होता है। प्रारभ में इस अन्दर की आत्म ज्योति को देखने में जिस रूप मे कठिनाई आती है, उसी रूप में परमात्मा के स्वरूप का अवलोकन करने मे भी प्रारभ में कठिनाई आती है, लेकिन इसी बुद्धि के माध्यम से वह कार्य धीरे-धीरे सरल बन सकता है।

जिस बुद्धि को सकेत दिया गया कि वह परमात्म स्वरूप के साथ अपना समीपता का सम्बन्ध कायम करे, उसी बुद्धि को हम दूसरे रूप में ले तो उसका सम्बन्ध कायम करने का वह विषय जल्दी ही हल हो सकता है। परमात्मा को हम आखो से देखने की कोशिश करते हैं और सोचते हैं कि सिद्ध क्षेत्र हमसे बहुत दूर है। सिद्ध क्षेत्र मे रहने वाली सिद्ध स्वरूप आत्मा वह परमात्मा के रूप में रही हुई है। ऋषभदेव की आत्मा तथा अन्य अनेक परमात्माओ की आत्माएँ – सम्पूर्ण रूप से समग्र सौन्दर्य मे स्थित आत्माएँ परमात्मा के रूप में हैं, लेकिन वे अब इस धरती पर नही आती हैं – नहीं दिखती हैं। वे लोक के अन्तिम छोर पर ही स्थित रहती हैं। वहा से कोई शक्ति उनको विचलित नही कर सकती, हिला डुला नहीं सकती और खिसका नहीं सकती, तो भला हम यहाँ पर बैठे हुए भावुक भाषा में भव्य स्तुति के साथ भक्ति रस मे बह भी जाय और हमारी समग्र अर्पणा को भी उनके चरणों मे रख दे, फिर भी सिद्ध क्षेत्र से भगवान् यहाँ नहीं आवेगे। और यहा नहीं आयेगे तो स्वभावत प्रश्न खडा होगा कि उनसे इस आत्मा का सम्बन्ध कैसे जुडेगा ?

लेकिन मेरा कहना यह है कि इस सम्बन्ध को जोडने के लिये और उसे पुष्ट बनाने के लिये उनको यहा बुलाने की आवश्यकता नहीं है। आपको भारत देश के समग्र क्षेत्रों का इस हेतु से भ्रमण करने की भी आवश्यकता नहीं है तो अपने घर के अन्दर भी उस परमात्म स्वरूप को ढूढने की आवश्यकता नहीं हे। यदि इस कार्य में आपकी बुद्धि का नियोजन हो जाय, केन्द्रीकरण बन जाय और अभ्यास चलने लगे एव उस प्रीतम को देखना चाहे तो वे प्रीतम इस बुद्धि के बिल्कुल समीप मे आ सकते हैं।

जो परमात्मा से सम्बन्ध जोडता है वह है बुद्धि को आत्मनिष्ठ बनाना

यह बुद्धि जिस शरीर को देख रही है, जिस मकान को देख रही है, वह मकान आपसे नजदीक है या दूर ? समव है मेरे इस प्रश्न से आप उलझन में पडेंगे कि जिस मकान मे हम रहे हैं, उसे नजदीक कहे या दूर ? हम तो इसी में रह रहे हैं – मकान के भीतर ही तो हम हैं। तो समझिये कि जिस मकान के भीतर आप हैं और आप उस मकान की समीपता मानते हैं, वैसे ही शरीर को आप अपने से समीप समझते हैं या दूर ? शरीर को तो आप मकान से भी अधिक और सबसे अधिक समीप समझते होगे। लेकिन समझने और उससे भी ज्यादा महसूस करने की बात यह है कि शरीर से भी ज्यादा आपके समीप 'आप' स्वय है। मेरा शरीर जब आप कहते हैं तो यह 'मैं' कौन है ? यह सबमें अपना-अपना जो 'स्व' है, वही आत्मा है – वही परमात्मा है क्योंकि आत्मा सो परमात्मा – अपने को सर्वथा शुद्ध बना लें तो वही आत्मा परमात्मा बन जाती है। अब कहिये आपके सबसे अधिक समीप कौन हुआ ? परमात्मा सबसे अधिक समीप हुआ अपने 'स्व' के – अपनी आत्मा के। मृत्यु आयगी तो शरीर छूट जायगा और किसी भी कारण से कभी भी मकान छूट सकता है, लेकिन आत्मा अपने से कभी छूटने वाली नहीं है और वह उन्नति करेगी तो परमात्मा ही बनेगी। इसी कारण आत्मा से परमात्मा सर्वाधिक समीप होते हैं।

लेकिन आश्चर्य इस बात का है कि दूर की वस्तु को तो समीपस्थ समझते हैं और अत्यत समीपस्थ वस्तु को दूर देखते हैं। यहीं बड़ी भूल हो रही है। इस बुद्धि मे जागृति हो तो वह देखेगी कि उससे सर्वाधिक समीपस्थ कोई तत्त्व है तो वह है आत्म तत्त्व, कारण आत्मा स्वय का ही गुण बुद्धि विज्ञान है। इसके साथ उसका तारतम्य सम्वन्ध है और वह आत्मा परमात्मा की परिपूर्ण सत्ता को लेकर रही हुई है। आपकी बुद्धि को इस परमात्मा को वरने की आवश्यकता नहीं है। उसको तो आप निमित्त अधिकार सा मानकर चलिये।

जो मुख्य प्रश्न है, वह यह है कि बुद्धि आत्मा का गुण होकर जो गुणी से दूर-दूर भटक रही है, वह कैसे आत्मा के समीप आवे, आत्मा में बसे और आत्मा के निर्देश के अनुसार गति करे ? इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि आपकी वुद्धि अपनी ही आत्मा को वर ले – वह आत्मनिष्ठ वन जाय। जो परमात्मा से सम्वन्ध जोड़ने की वात कही गई है, उसका मूल अभिप्राय यही है कि इसी वुद्धि को आत्मनिष्ठ वनावें।

जव वुद्धि आत्मा का ही गुण है तो उसको आत्मनिष्ठ वनाने का क्या अर्थ ? आपका पुत्र आपके घर से चला जावे और दूर-दूर नगरों में भटकता रहे तो क्या

वह आपकी सेवा कर सकेगा ? पुत्र आपका अवश्य है, लेकिन वह आपके पास रहे – आपकी आज्ञा मे चले तभी वह आपके काम का हो सकता है। उसी तरह बुद्धि के लिये भी गति करने की सही दिशा आत्मा की दिशा होती है, लेकिन बुद्धि अगर आत्मा से विपरीत दिशा में भटक रही हो तो पहला काम यही होता है कि उसको गलत दिशा से मोडकर सही दिशा मे लावे।

बुद्धि की गति की दो विपरीत दिशाएँ होती हैं। एक तो आत्मनिष्ठ होकर चलने की सही दिशा और उससे ठीक विपरीत और गलत दिशा कि वह जड तत्त्वो में मोहान्ध बन कर भटकती फिरे। इस तरह उसे गलत दिशा से सही दिशा में लाने की प्राथमिक समस्या सामने आती है।

बुद्धि जड से चेतन की ओर
बाहर से भीतर की ओर मुडे

बुद्धि के आत्मनिष्ठ बनने का तात्पर्य यही है कि बुद्धि जड से चेतन की ओर – बाहर से भीतर की ओर मुडे। व्यक्ति जब भीतर से अलग हटकर बाहर ही बाहर देखता है, तब उसे बाहर की वस्तुएँ ही दीखती है – भीतर का स्वरूप नहीं दीखता, लेकिन जब वह बुद्धि को अन्दर मोडता है तो शरीर के भाग को देख पाता है। वैसे ही बुद्धि जब बाहर ही बाहर दौडती है तो आप बाहर की दुनिया को देखते हैं कि दुनिया मे क्या हो रहा है, अमेरिका, इग्लैंड, रूस आदि देशो मे क्या कर रहे हैं, वैज्ञानिको की प्रगति कैसे चल रही है आदि आदि ? लेकिन उसको ज्ञात नहीं है कि दुनिया के हाल-चाल की तो जानकारी की जा रही है मगर मेरे घर मे – मेरे भीतर में क्या हो रहा है ? खुद के घर को नहीं देखकर जो दूसरो के घरों का ख्याल रखता हो – उसकी बुद्धि को आप क्या कहेगे ? उसे बुद्धि का विभ्रम कहते हैं।

जिस व्यक्ति को अपनी शक्ति का पता नहीं है, अपने जीवन का ध्यान नहीं है तथा अपने इस शरीर रूपी भवन मे कौनसी महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है – इसका ख्याल नहीं है तो वह व्यक्ति दुनिया का चाहे जितना ही ज्ञान कर ले और दुनिया के ज्ञान से दूसरो को आश्चर्य में डाल दे, परन्तु यह सब एक दृष्टि से अपने आपको खोना है। अपने 'स्व' से अपनी बुद्धि को विलग करना है।

बुद्धि अपने 'स्व' से विलग होती है तो अपने आप को खाती है और अपने 'स्व' के साथ जुडती है तो स्वस्थ बनकर आत्म स्वरूप को विकसित करती है। भगवान् श्री ऋषभदेव के तुल्य अपनी आत्मा को प्रीतम बनानी है तो इस बुद्धि को शान्तिपूर्वक शरीर के भीतर रहने वाले सत् चित् एव आनन्द रूप परमात्मा के साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध जोडने का प्रयास करना चाहिये। शादी के समय

हथलेवा जुडाने के लिये किसी विप्र को बुलाना पडता है, लेकिन बुद्धि या चेतना का आत्म तत्त्व रूपी प्रीतम के साथ हथलेवा जुडवाने के लिये किसी विप्र की जरूरत नहीं है। वह तो जुडा हुआ ही है लेकिन उस पर पर्दा पड़ा हुआ है, इसलिये वे दोनों एक दूसरे को देख नही पा रहे हैं। आत्मा बुद्धि को भिन्न समझ रही है और बुद्धि आत्मा को भिन्न—जिससे दोनो विपरीत दिशाओं मे गति कर रही हैं। आत्मा पूर्व मे तो बुद्धि पश्चिम मे जाती है। जब तक पश्चिम की बुद्धि पूर्व में नही मुडेगी तब तक वह अपने प्रीतम को नहीं देख पावेगी। तब उसका स्वरूप दूसरा ही होगा।

बुद्धि की गति अपने प्रीतम की तरफ नही है, इस कारण उसकी गति विपरीत दिशा में है। उसकी गति छाया की ओर है, प्रकाश की ओर नहीं है। वह उस छाया के पीछे अन्धकार में जा रही है। यह पर-पदार्थो के पीछे भाग रही है। आत्म स्वरूप सूर्य है तो ये पर-पदार्थ छाया के समान है। जिसके स्वय के भीतर निधि है, उसको भुला कर यदि वह बाहर के ककर-पत्थरो के पीछे दौडती है तो उस बुद्धि के स्वरूप को क्या कहेंगे ? एक भिखारी शहर भर मे मागता फिरता है फिर भी पेट भरने को रोटी, तन ढकने को कपडे और सिर छुपाने को छप्पर नहीं मिलता, बल्कि वह सबकी घृणा का पात्र होता है। कल्पना करे कि वह जहाँ रास्ते के एक ओर बैठता था, उसके मरने के बाद उस स्थान को खुदवाया गया तो भीतर से सोने की मुहरों के चरू भरे हुए निकले। लोगो ने सोचा कि भिखारी सारी उम्र मागता रहा है दरिद्री बना रहा। वह बाहर से सबके सामने मागता न रहता और अपने बैठने की जगह को ही खोद डालता तो अपार धन उसके हाथ लग जाता। वैसे ही आज अधिकाश व्यक्ति की बुद्धि उस भिखारी की तरह चल रही है – दरिद्रता भुगत रही है लेकिन भीतर नहीं मुडती – अपनी ही गहराईयों में प्रवेश नही करती। यह प्रत्येक व्यक्ति के लिये चिन्तन का प्रसग है।

विपरीत दिशाओ मे भटकती
भ्रमित बनी यह बुद्धि !

आप जिस धरातल पर बैठे हुए हैं, वहाँ आपकी बुद्धि दुनिया के नाशवान पदार्थो की आशा रख कर चल रही है, लेकिन उसे यह भान नहीं है कि मेरी ही तह में कितनी अपार निधि दबी हुई है ? वह एक ऐसी अलौकिक निधि है जिसे पा लेने के बाद सदा के लिये सुख और शान्ति का प्रसग उपस्थित हो सकता है। लेकिन यह बात विपरीत दिशाओ में भटकती भ्रमित बनी इस बहिर्मुखी बुद्धि की समझ में नही आ रही है। यह बुद्धि जब अन्तर्मुखी बनेगी, तभी चैतन्य स्वरूप आत्मा के साथ इसका स्थायी सम्बन्ध जुड सकेगा और उसे वह सदा काल सुखी

बनाये रखने वाली निधि मिल जायगी। जिसकी आदि है, अन्त नहीं है। जिस से सम्बन्ध जोडने मे प्रारम मे कठिनाई आती है लेकिन पूरी तरह जुडने के साथ वह सम्बन्ध कभी टूटता नहीं है।

ऐसे सम्बन्ध का प्रसग इस आध्यात्मिक प्रार्थना में रहा हुआ है। इस प्रसग को किस प्रकार उद्घाटित किया जाय – कैसे स्पष्ट किया जाय, शब्दों के माध्यम से इस प्रसग को उपस्थित करने मे काफी सकोच होता है क्योंकि समय और शब्दो की शक्ति सीमित होती है और सीमित शक्ति में असीम को बाधना असीम के साथ भी न्याय नहीं है। वैसे भी यह विषय अनुभवगम्य अधिक है तथा बुद्धि अपनी विपरीतता, अपने भटकाव और अपने भ्रम से मुक्त बनकर इस प्रसग मे आन्तरिकता के साथ प्रवेश करे तो वह आध्यात्मिकता के गहरे आनन्द का अनुभव ले सकती है।

भौतिक विज्ञान के माध्यम से ऐसा अनुभव नहीं हो सकगा। जिस वस्तु को आप देखना चाहते हैं, अपने आध्यात्मिक बल से, उस वस्तु को आप एक ही स्थान पर बैठकर देख सकते हैं चाहे नैत्र बद हो, कानों की खिडकिया भी खुली नहीं रहे परन्तु पाचों इन्द्रियो व मन की स्थिति एकाग्र होनी चाहिये। इसे ध्यान दर्शन कहते हैं और यही ध्यान दर्शन विकसित होकर अवधि ज्ञान के रूप में ढलता है। इसका अनुमान लगाने के लिये भौतिक विज्ञान का प्रयोग वैज्ञानिक क्षेत्र मे किया जा रहा है। आज बुद्धि की गति कुछ ऐसी विपरीत चल रही है कि जिनको आध्यात्मिक ख्याति मिली हुई है, वे तो भौतिकता की ओर दौड लगा रहे हैं, लेकिन भौतिक ख्याति वाले आध्यात्मिकता की ओर बढ रहे हैं। वे अभौतिक माध्यम से एक दूसरे को समझने और देखने का प्रयास कर रहे हैं। ऐसे कई वैज्ञानिक प्रयोग वैज्ञानिक जगत् मे आ चुके हैं। इनकी विधिया अलग-अलग रूप मे दी जा रही हैं। कुछ व्यक्ति सूक्ष्म शरीर की बात कह रहे हैं तो कोई छाया स्वरूप की दृष्टि से बोल रहे हैं, लेकिन प्रयासों का सिलसिला व्यवस्थित नहीं है। ये प्रयास तभी सही रास्ते पर मुड सकेगे जब सहज रूप में स्वय अपने ही परमात्मा की उपलब्धि कर लेगे इतने प्रत्यक्ष रूप में जैसे ही अपना शरीरपिड अपने अनुभव में आता है। ऐसी आन्तरिक अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति ले सकता है।

आत्म साक्षात्कार के लिये प्रमाण नही प्रत्यक्ष की आवश्यकता

आप सोचेंगे कि आत्म-साक्षात्कार अभी कैसे करें ? अभी तो प्रमाण मागेंगे तथा उस प्रमाण के सहारे चलेगे। मैं सोचता हूँ कि इस आन्तरिक कार्य के लिये प्रमाण की आवश्यकता नही है, प्रत्यक्ष की आवश्यकता है।

अभी अग्रवाल जी आप किस पद हैं ? आप डिप्टी डाईरेक्टर हैं। इस पद का इतने वर्षो का आपका जो अनुभव है, क्या आप उसको हथेली पर धर कर सबको दिखला सकते हैं ? अब कोई कहे कि अगर आप अपने अनुभव को हथेली पर रख कर प्रत्यक्ष नही दिखा सकते हैं तो उस अनुभव को हम कैसे माने ? उस समय आपकी अन्तरात्मा कहेगी कि तुम विश्वास करो या न करो, लेकिन मैं अपने अनुभवों को अपने भीतर समझता हूँ तथा महसूस करता हूँ। अपनी योग्यता का अनुभव आप सभी अपने भीतर करते हैं। यह ऐसा अनुभव होता है, जिसे आप महसूस तो करते हैं लेकिन उसको यथावत् व्यक्त नहीं कर सकते हैं। यह अन्तर्दर्शन सबका एक ही होता है, जानते हैं, यह किस पर टिका हुआ है ? आपके शरीर की अवस्थाएँ बदल रही है, लेकिन अनुभव नहीं बदल रहा है। ज्ञानियो ने इसको सवदेना प्रत्यक्ष कहा है – स्वय अपना ही सम्बन्ध अपने आप में प्रत्यक्ष कर लें। यही पद्धति आत्म-साक्षात्कार की ओर ले जाती है।

आप यहॉ व्याख्यान स्थल पर बैठे हैं, लेकिन आप अपने इष्ट जनो को यहॉ बैठे-बैठे देख रहे हैं या नही ? और कुछ याद नहीं आता होगा तो तिजोरी तो अवश्य याद आती होगी। भले ही आखे मेरी तरफ हो, मगर तिजोरी का नाम लेते ही ध्यान तिजोरी की तरफ चला गया होगा। जिस स्थान पर वह पडी है, अपने ध्यान मे उस स्थान को आप प्रत्यक्ष देख रहे होंगे और तिजोरी के किस खाने में क्या-क्या पडा हुआ है यह भी ध्यान मे साफ-साफ दिखाई दे रहा होगा। यह तिजोरी शरीर पिड से परे है लेकिन अन्त करण में प्रत्यक्ष है। उसी तरह आत्मा के प्रत्यक्ष स्वरूप को क्या कभी भी अन्तर्दृष्टि से ओझल किया जा सकता है ? केवल आवश्यकता यही है कि बुद्धि का मोड उस दिशा मे कर दिया जाय – उसे आप आत्माभिमुखी बना लें। चर्मचक्षुओं से आत्म स्वरूप दृष्टि मे नही आता है। आप यहॉ बैठे हुए अपनी तिजोरी को देख रहे हैं सो क्या चमडे की आखो से देख रहे हैं ? बुद्धि को उधर मोड दिया तो ध्यान मे तिजोरी देखने लगे और बुद्धि को आत्म स्वरूप की तरफ मोड दे तो अन्तर्दृष्टि के विकसित हो जाने पर आत्म स्वरूप को देख भी सकेंगे तो आत्मानुभूति के विकसित हो जाने पर आत्म-साक्षात्कार भी कर सकेंगे।

ध्यान और ज्ञान समक्ष नही, पर प्रत्यक्ष होता है

ध्यान सबका अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार बनता है तथा ज्ञान व कल्पना के अनुसार अदृश्य पदार्थ या स्वरूप भी देखे जा सकते हैं। वह ध्यान और ज्ञान आप कह सकते हैं कि हाथ पर रखे आवले की तरह आपके समक्ष नहीं

होता, लेकिन आपको अनुभव यही होगा कि वह उस समक्ष से भी अधिक प्रत्यक्ष है। इस अनुभूतिमय बुद्धि की गति को आप आगे बढाते जाइये, निरन्तर अभ्यास करिये और सोचिये कि परमात्मा कहाँ है ? यह अभ्यास ही आपको अपनी ही आत्मा का साक्षात्कार करवायगा। प्रारम मे इसका अभ्यास करने मे कठिनाई होगी लेकिन ज्यो-ज्यो बुद्धि का निरन्तर नियोजन, केन्द्रीकरण तथा अभ्यास चलेगा तो यह सुगम बन जायगा।

किसी बहते हुए नाले को मोड देना कठिन होता है, लेकिन बाध बना कर नाले का मोड उसमें कर दिया जाय तो पानी अपने वेग का असर दिखा कर भी बाध के मजबूत साबित होने पर जिस दिशा में मोडा गया है, उधर मुड जायगा। मोड बदलने मे पहले कठिनाई होगी, लेकिन एक बार बहाव में मोड आ जायगा तो फिर वह बहाव उसी तरह अपने वेग को पकड लेगा। यही स्थिति इस जीवन की है।

इस जीवन का प्रवाह तथा बुद्धि की गति अनादिकाल से विपरीत दिशाओ में गतिशील है। इसका प्रवाह व्यर्थ की बातो को ढूढने मे भौतिक तत्त्वो की ओर जा रहा है। अब इस प्रवाह पर बाध लगाइये, आन्तरिक वृत्तियो तथा बुद्धि को उस बाध में रोकिये और उनका मोड आत्म स्वरूप की तरफ कर दीजिये। विपरीत दिशाओं मे दौडने वाली बुद्धि और वृत्तियाँ प्रारम मे टक्कर मारेगी, दिल को हिला देंगी। इसमे आप हैरान हो जायेगे तो मन चचल बन जायगा, लेकिन अगर आप मजबूत रह गये तो उनका मोड अवश्य बदल जायगा। ऐसा क्यो होगा ? वह इसलिये कि जब यह प्रवाह टक्कर मारता है और आप मजबूती से उसे झेल लेते हैं तो वह फिर कुछ नही कर पायगा।

अपने जीवन की इस स्थिति का मोड करना आप को कठिन मालूम हो रहा है लेकिन आप अपनी आन्तरिक दिशा को बदल दीजिये। दिशा बदली तो दशा बदलने मे देर नही लगेगी। दृष्टि बदली तो सृष्टि बदल जायगी। जो इस वक्त दृष्टि में सृष्टि है, वह न रहकर दूसरी सृष्टि आ जायगी। उसमें आगे प्रवेश करेंगे तो आत्म और परमात्म स्वरूप साक्षात् दृष्टि मे आ जायगा। आपको इसके लिये साधन अपनाने होगे और उन साधनों को अपनाते हुए चले तो ध्यान और ज्ञान का प्रत्यक्ष होना अशक्य नहीं है।

साधन है नीति, नियम, तप और सयम

आध्यात्मिक जीवन के ये साधन हैं नीति, नियम, तप और सयम आदि। जिनकी साधना से आत्म-साक्षात्कार का साध्य प्राप्त हो सकता है। अपने

व्यवहारिक जीवन में जब आप नीति को ग्रहण करके चलेगे तो अनैतिकता एव अन्याय से दूर हो जायेगे। यह धर्नाजन भी आप नैतिकता से ही करेगे। नियम धारण करने से जीवन पद्धति व्यवस्थित बनेगी। कोई कहे कि नियम तो बन्धन है तो मैं सोचता हू कि नियम को जो कोई बन्धन समझ रहे हैं तथा अपनी स्वच्छन्दता को स्वतत्र समझ रहे हैं, वह बुद्धि का विपर्यास मात्र है।

नियम आपको बाधते नही, स्वस्थ एव सुरक्षित रीति से चलने का अभ्यास कराते हैं। शहरो मे आप देखते होगे कि व्यस्त सडको पर बाए चलने के निर्देश लिखे होते हैं। यह नियम बना दिया कि सभी बाए चले – इसलिये कि दुर्घटनाएँ न घटे और बिना टकराव के सभी वाहन वगैरा व्यवस्थित चल सकें। तो नियम बधन नहीं होता, वह स्वतत्रता की ओर आगे बढाता है। बधन तो होती है स्वच्छन्दता कि आप चाहें जैसे चले और स्वच्छन्दता से सडक पर मृत्यु हो सकती है तो जीवन मे पतन होता है। नियम धारण करने से बधन टूटता है और आध्यात्मिक नियमो से आप व्यर्थ के पापाचरण से बचते हैं। नियम स्वय बधन नहीं, बधन तोड़ने का मार्ग है।

इन आध्यात्मिक साधनो के अभाव मे आत्मा की अपार शक्ति चन्द चादी के टुकडो मे बाध कर रखने और उसी मे आनन्द मानने की जो कुचेष्टाएँ की जा रही हैं, वे ही आज जीवन को बाधे हुए हैं। कोई बधन की ऐसी बेडियो से जकडा हुआ होने पर भी कहे कि वह स्वतत्र है तो यही लक्षण है जिससे जाना जा सकता है कि उसकी बुद्धि विपरीत दिशाओ मे दौड रही है।

इसकी बुद्धि को अन्तर्मुखी बनायेगे तो स्पष्ट हो जायगा कि बन्धन् कहाँ है ? तब दिखाई देगा कि आत्मा की प्रत्येक शक्ति बाहर के आकर्षण में जकडी हुई है और पाचो इन्द्रियाँ व मन लालसाओ मे फसे हुए हैं। भग के नशे मे सही बात नही सूझती है, वैसे ही नाशवान पदार्थो का व्यामोह बुद्धि के नशे मे पागल बनाये रखता हे। इस पागलपन मे नजर और समझ की ताकत विपरीत हो जाती है। अच्छी बाते बुरी और बुरी बाते अच्छी लगती हैं। साप का जहर चढ जाता है तो नीम की पत्तिया भी मीठी लगती है। तब मंत्र पढने वाला समझ जाता है कि साप ने काटा हे। वह मत्र पढता जाता हे और पत्तियाँ खिलाता जाता है। जब उसको फिर से पत्तियाँ कडवी लगने लगती है तो वह समझता है कि उसके मत्र का असर हो रहा हे ओर जहर उतर रहा है।

इसी रूप मे जब आध्यात्मिक साधनो को अपनाना आरम्भ किया जायगा, तब धीरे-धीरे प्रतीत होने लगेगा कि कहाँ स्वतत्रता है ? बुद्धि की गति सही होनी चाहिये क्योंकि बुद्धि की गति सही बन जायगी तो दृष्टि भी सही हो जायगी। दृष्टि सही बनने ओर आन्तरिकता की ओर मुडने के बाद जो सही होगा, वही सही दिखाई देगा।

आप अपनी बुद्धि को तोलिये और सही रास्ता पकडिये

आज आप चिन्तन करे कि आपको कितनी शान्ति मिल रही है ? शान्ति नहीं मिल रही है तो क्यो नहीं मिल रही है ? और इसमें बुद्धि की गति किधर है ? सही विचार से आप अपनी बुद्धि को तोलिये और जीवन में सही रास्ता पकडिये। यह निर्णय आत्म चितन की भूमिका पर ही हो सकेगा। जैसे एक न्यायाधीश अपने पास के किसी मुकदमे में सही निर्णय लेने के लिए बिना किसी लाग लपेट के – बिना किसी काम, क्रोध, मद, मत्सर एव तृष्णा के सोचता है और अपने को सबसे परे रखकर सोचता है, उसी तरह बाह्य जगत् को परे रखकर अपने भीतर स्थित होकर आप भी सोचे तो आपको अन्तर्ज्योति अवश्य दिखाई देगी जिसके प्रकाश मे आपको सही मार्ग भी अवश्य मिलेगा।

आपके सामने बालाघाट वाले भाई ने अपनी आन्तरिक भावना व्यक्त की कि उनके क्षेत्र मे भी सन्त सतियो का आगमन हो। चागूटोला के भाई बहिन भी उपस्थित हैं। उनकी भावनाओ को भी मैं समझता हू। बडे क्षेत्रो मे धार्मिक अनुराग का प्रवाह चलता है तो गाव भी पीछे नहीं है। कभी ऐसी भ्रान्ति चलती है कि महाराज तो बडे-बडे क्षेत्रो और धनवानों की बात सुनते हैं, गाव वाले छोटे आदमियो की नहीं सो ऐसी भ्रान्ति बाहर निकाल दे। मैं तो मेरी दृष्टि मे एकरूपता रखने का ही प्रयास करता हू। विहार हो या गोचरी – क्षेत्र स्पर्शना हो या हाथ स्पर्शना – मैं सभी योग्य स्थानो पर जाने की भावना रखता हूँ – भेद दृष्टि का तो प्रश्न ही नहीं है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि सन्त सतियो की जो विनती की जाती है, उसमे सही बुद्धि और सही श्रद्धा का आभास मिलता है। उनकी अन्तरात्मा मे जागृति आती है, धर्म-पथ पर आगे बढने की अभिरुचि होती है।

आप सब अपनी बुद्धि की वर्तमान गति की परीक्षा कीजिये, उसको विपरीत दिशाओ से हटा कर अन्तर्मुखी बनाइये तथा अन्दर प्रवेश करने का प्रयास कीजिये। प्रारम मे कठिनाई होगी लेकिन फिर यह कार्य सुगम बन जायगा। तब आत्म साक्षात्कार का ऐसा आनन्द आने लगेगा कि फिर समग्र जीवन का प्रवाह मगलमय बन जायगा।

नोखा
२१ ९ ७६

7

अहिंसा की सूक्ष्म मर्यादाएँ

ऋृषभ जिनेश्वर प्रीतम म्हारा,
और न जानू रे कन्त

ऋषभदेव असख्य वर्षो पूर्व मानव जाति के युग प्रवर्तक हो चुके हैं। जितने भी धर्म, मत या पथ प्रचलित हैं, उन सब मे किसी न किसी रूप मे ऋषभदेव का उल्लेख सस्कृति निर्माता की दृष्टि से मिलता है। वेद व्यास ने इनकी विस्तृत स्तुति की है तो उपनिषदों में इनका उल्लेख है। मानव जाति के आदि अवतार के रूप मे इनको माना गया है। किसी मत मे अवतार के रूप मे तो किसी में बाबा आदम के रूप मे और किसी स्थल पर मानव जाति के आदि सस्थापक शिव के रूप मे ऋषभदेव को माना गया है। विभिन्न दृष्टिकोणों से सभी व्यक्ति ऋषभदेव का स्मरण करते हैं।

सर्वप्रिय होने की दृष्टि से उनकी क्या विशेषता थी ? वे जब अवतरित हुए तो उस समय युगलिया सस्कृति चल रही थी। प्रत्येक घर में एक युग्म (लडका-लडकी) एक साथ जन्म लेता था और वही आगे चलकर दम्पत्ति वन जाता था। उनका जीवन निर्वाह प्रकृतिदत्त फल-फूलो पर होता था। उस समय पूर्णतया आदि सस्कृति थी। श्री ऋषभदेव ने पहले जनता को कर्म करने का पाठ पढाया क्योकि तव तक प्रकृति की अकृपा होने लगी थी और अभावग्रस्त स्थिति से लोगो मे हाहाकार मच रहा था। ऋषभदेव ने उन्हे 'असि मसि व कसि' के क्षेत्र में उतारा। असि अर्थात् तलवार याने रक्षा का कार्य। मसि याने स्याही अर्थात् पठन पाठन, व्यापार व्यवसाय का कार्य तथा कसि याने कृषि कार्य। इन तीनों प्रकार के कार्यो का ज्ञान उन्होने सामान्य जन को दिया और उन्होंने श्रम पर आधारित समाज का श्रीगणेश किया। उन्होंने जनता को पहली वार कर्मपथ पर चलना सिखाया।

तो धर्मपथ पर चलना भी उन्होने ही सिखाया। मानव जीवन का सम्पूर्ण विकास हो – इस दृष्टि से पहले वे साधना पथ पर स्वय चले और अपना आत्म-विकास सम्पादित किया। उसके बाद उन्होने जनकल्याणार्थ उपदेश दिये और आत्मोत्थान का मार्ग दिखाया।

जनता उनके चरण चिन्हो पर चलने लगी तथा कर्म और धर्म दोनो प्रकार से भारत भूमि का आमूलचूल कायाकल्प हुआ। मानवीय सस्कृति की पवित्र धारा-निर्ग्रंथ श्रमण सस्कृति का श्रोत अबाध गति से बहने लगा। भगवान् ऋषभेदव तीर्थकर हुए तथा उनके बाद महावीर स्वामी सहित २३ तीर्थकर और हुए जिन्होने इस सस्कृति श्रोत को निरन्तर गतिशील बनाये रखा।

इस सस्कृति श्रोत का श्वेत कमल है अहिसा का सिद्धान्त – जिसकी तीर्थकरो ने इतनी सूक्ष्मता से आराधना और मर्यादाओ का निर्देश दिया है, कि उतनी सूक्ष्मता मे शायद ही अन्य कोई दानी उतरा हो।

अहिसाव्रत धर्म-प्रासाद की "नीव की ईंट" रूप है

धर्म रूपी प्रासाद की नींव की ईट अगर किसी सिद्धान्त को कह सकते हैं तो वह अहिसा का सिद्धान्त है। अहिसा व्रत धर्म का मूलाधार है। जितनी सूक्ष्म अहिसा की मर्यादाएँ हैं, उतनी ही सूक्ष्म उनकी आराधना भी है। इस सूक्ष्मता का अवलोकन शास्त्रीय पृष्ठों पर तो करे ही, किन्तु उन साधको के आदर्श जीवन मे भी करे, जिन्होंने अहिसा के उत्कृष्टतम स्वरूप का अपने जीवन मे विकास किया। इसीलिये कहा गया कि अहिसा परम धर्म है और इससे मानव ही नहीं, पशु पक्षी भी प्रभावित होते रहे हैं।

तीर्थकरो की जहाँ भी प्रतिष्ठा हुई है, उनके अहिसामय जीवन से मानव ही प्रभावित नहीं हुए, बल्कि पशु पक्षी भी नत मस्तक होकर उनके प्रभाव से अपनी मलिन वृत्तियो का परित्याग करके उनके समवशरण मे उपस्थित होते थे। जन्मजात वैर रखने वाले प्राणी जंसे सिह-वकरी भी शान्तिपूर्वक पास-पास वैठकर उन तीर्थकरो का उपदेश सुनते थे। उनका जीवन इतना वैर रहित और इतना मैत्रीपूर्ण कैसे वन सका – इस रहस्य का अनुसधान करेंगे तो विदित होगा कि वह अहिसा के प्रभाव की पराकाष्ठा थी। समस्त व्रतों मे अहिसा व्रत ही ऐसा प्रतिष्ठित व्रत है जिसकी गरिमा अन्य व्रतो की अपेक्षा महान् है।

जिस साधक का अहिसा व्रत सुरक्षित है, परिपूर्ण है, समझिये कि उस साधक के अन्य सभी व्रत भी सुरक्षित हैं। अहिसा व्रत की भूमिका जितनी मजबूत है – दूसरे शब्दो मे कहू तो सम्यक्रूपेण अहिसा की नीव जितनी मजबूत है याने

कि जिस भवन की नींव मजबूत है, उस भवन पर मजिल चुनी जा सकती है और ऊपर से ऊपर मजिले भी सुरक्षित रह सकती हैं। इसी कारण तीर्थकरो ने सबसे पहले इस अहिसा व्रत को अपने जीवन में व्यवस्थित बनाया और उसकी पुष्टि के लिये अन्य व्रतो को वे अकुरित, पल्लवित और पुष्पित करते रहे। वे साधु भी बने तो पहला प्रण " सव्व सावज्जजोग पच्चक्खामि" करके साधु बने। वे सर्व सावद्य योग के परित्यागी बने। सावद्य योग का तात्पर्य यह है कि मन, वचन एव काया ये सब प्रकार के हिसादिक कार्यो का परित्याग किया जाय। इसमे सिर्फ बडे प्राणियों की हिसा का ही त्याग शामिल नहीं है, बल्कि उन प्राणियों की हिसा का भी त्याग है जो मनुष्य की दृष्टि मे नही आ रहे हैं तथा जो ज्ञानियो के ज्ञान मे अभिव्यक्त हुए हैं। ऐसे सूक्ष्म प्राणियों की भी हिसा नहीं करने का व्रत उन तीर्थकरों ने लिया। ऐसे सूक्ष्म जीव पृथ्वी मे हैं, जल में हैं, अग्नि में हैं, वायु मे हैं और वनस्पति में हैं। ये और अन्य त्रस काया के चलते फिरते जीव मिलकर छ काया के जीव कहलाते हैं। इन छ काया के जीवो की हिसा का त्याग उन्होनें तीन करण से भी किया। इनकी हिसा न स्वय करना, न दूसरो से करवाना तथा न करते हुए की अनुमोदना करना। इस प्रकार यह त्याग तीन करण और तीन योग से बना।

इतनी विराट् और व्यापक अहिसा का उन तीर्थकरो ने महाव्रत अगीकार किया और उसकी आराधना इतनी गहरी बनाई कि उस अहिसा की प्रतिष्ठा मे पवित्र वायुमडल का निर्माण हो गया। उसी वायुमडल का सुप्रभाव प्रकट हुआ कि सिह और बकरी अपने वैर का शमन करके उनके समवशरण में साथ-साथ बैठते थे। अत अहिसा की मजबूत नींव की ईट जिसकी जीवन भूमिका में लग गई, उसके जीवन धर्म रूपी प्रासाद का भव्य निर्माण अवश्य होगा।

अहिसा तत्त्व की गहनता एव उसकी परिभाषित विवेचना

अहिसा का महत्त्वपूर्ण तत्त्व पूर्ण गहनता को लिये हुए है। इस तत्त्व को पहिचानने वाले इसके गभीर महत्त्व को समझ लेते हैं और फिर उसका सशक्त प्रतिपादन करते हैं। पातजलि के योग दर्शन में योग साधना से पहले यम और नियम का विधान किया गया हे। मानव यदि योग साधना करना चाहे तो इन यम और नियमो को अपने जीवन में पहले स्थान दे। यम और नियम व्रत और प्रत्याख्यान की स्थिति के साथ सबधित होते हैं।

यम की परिभाषा उन्होने देश और काल की दृष्टि से की। अमुक व्यक्ति अमुक देश मे रहता हुआ अमुक देश मे हिसा करता है और अमुक देश में हिसा

नहीं करता है। अमुक प्राणियों को मारेगा तो अमुक प्राणियों को नहीं मारेगा। इस प्रकार टुकडों-टुकडो मे थोडे हिस्सो मे अहिसादिक व्रत को जो ग्रहण करते हैं, वे अहिसा व्रतधारी की सज्ञा पाते है। इससे मिलती जुलती व्यवस्था महावीर के श्रावको की पाच अणुव्रतो की व्यवस्था है लेकिन उसमे देशकाल की सीमा का मापदड नही रखा गया है। उनका पालन सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। समी देशो मे, समी काल मे तथा समी अवस्थाओं मे अहिसा के पालन करने को पातजलि योग ने महाव्रत की सज्ञा दी है। वहॉ इस का अर्थ बताते हुए कहा गया है कि अहिसा जहॉ प्रतिस्थापित होती है, उसके समीप में वैर का भी परित्याग हो जाता है। यह भावना योग साधना मे लाने के प्रसग से पातजलि ने योग दर्शन मे व्यक्त की है।

परन्तु तीर्थकर देवो ने अत्यधिक गहनता के साथ अहिसा के महाव्रत को विश्लेषित किया है। उनके जीवन से प्रकट होने वाली अहिसा का स्वरूप इतना पवित्र और शुद्ध था कि उनके समवशरण में छोटे से प्राणी तक की अहिसा का प्रसग भी नहीं आता था। समवशरण का अर्थ है व्याख्यान स्थल। भगवान् के व्याख्यान देने का जो स्थल निर्धारित होता था, उसमे प्रवेश करते ही प्रत्येक प्राणी भगवान् के महान् व्रतों को ध्यान मे लेता था और किसी प्रकार की अविधि नही करता था। अविधि से विनयशीलता खडित होती है – यह वह जानता था।

जब कोई श्रोता भगवान् के समवशरण में पहुँचता था तो वह व्याख्यान स्थल की सीमा के बाहर ही विधि साधता था। वह फूलों की माला या काई भी सचित्त पदार्थ अपने से हटा लेता था और हिसाकारक शस्त्रो को भी बाहर रख देता था। इसका अभिप्राय यह था कि छोटे से छोटे जीव की हिसा का भी वहॉ प्रसग न बने। व्याख्यान स्थल मे प्रभु की मर्यादाओ को सुरक्षित रखने के लिये वह मुह पर वस्त्र रखकर बोलने का यत्न करता था। इससे सूक्ष्म जीवो की भी हिसा नही होती। भीतर प्रवेश करने पर जहॉ से वह प्रभु को देखता था, वहीं से विधिसहित वह प्रभु को नमन करता था।

आप श्रवण कर रहे हैं गेरी बात को ? मैं तीर्थकरो के व्याख्यान स्थल की गर्यादाएँ वतला रहा हूँ कि वहॉ सूक्ष्म जीवो की भी हिसा नहीं होती थी। यह बात शास्त्रो के पृष्ठो पर भलीभाति लिखी हुई है।

अहिसा व्रत की परिपक्व साधना और निर्ग्रंथ श्रमण संस्कृति का प्रवाह

मैं वैसे ही आपसे प्रश्न कर लेता हूँ कि तीर्थकरो के महाव्रत कच्चे होते थे या पक्के ? पक्के का मतलब है कि चाहे प्राण जाए लेकिन प्रण न जाय। यदि

कोई व्यक्ति शरीर की चमडी उतारने की भी कोशिश करे तो कर सकता है लेकिन अहिसा के साधक के मन में हिसा की भावना नहीं आ सकती। ऐसे परिपक्व महाव्रत तीर्थंकरों के होते थे और श्रावक लोग उनका पूरा ख्याल रखते थे कि कहीं भगवान् की अवज्ञा न हो जाय और उनके महाव्रतों को कहीं मोच न आ जाय। उन्हें ध्यान था कि कहीं छोटे जीवों की भी हिसा हो जायगी तो वे व्याख्यान श्रवण नहीं करायेंगे क्योंकि करायेंगे तो अनुमोदन करने का पाप लग जायगा। वैसे भी वे अहिसा की गहनता को भली प्रकार से समझते थे।

उन्हीं तीर्थंकरों की अहिसा व्रत की परिपक्व साधना से एक पवित्र परम्परा ढली तथा उसी परम्परा में निर्ग्रथ श्रमण सस्कृति का प्रवाह प्रस्फुटित हुआ है। आप मुनि जनों के सम्मुख आते हैं तो इन मुनि जनो को क्या समझते हैं ? कौन हैं ये मुनि जन ? ये अपने मन कल्पित सिद्धान्तों को लेकर चलने वाले हैं अथवा तीर्थंकरों के पवित्र सिद्धान्तो को लेकर ? वास्तव मे यदि वे तीर्थकरो की पवित्र परम्परा में न चलें तो उनको कितनेक व्यक्ति पूछेगे ? चूकि उन्होने तीर्थकरों की वाणी के आधार पर पच महाव्रतो को अगीकार किये हैं और इसीलिये उनका सत्कार होता है। इन महाव्रतो के पालन करने का परिपूर्ण उत्तरदायित्व किस पर है ? जो अगीकार करता है उस पर तो है ही, लेकिन जो अगीकार करने वाले का मददगार बनता है उस पर भी है। वह आपका प्रतिनिधित्व लेकर ऊपर जाता है और वहॉ जाकर जो कुछ कार्य करता है, उसमें आपका भी समर्थन होता है। जिन श्रावकों और जनता की उपस्थिति मे दीक्षित बनने वाले ने जिन महाव्रतो को अगीकार किया और सबने उसका समर्थन किया तो उन व्रतो के पालन करवाने का उत्तरदायित्त्व सब पर भी आ जाता है। जो व्रतों को अगीकार करके उनके अनुसार चलता है, वह अपने जीवन को विकसित कर लेता है, लेकिन जो अपने कर्त्तव्यों को भुलाता है, अपनी मर्यादाओ को छोडता है और फिर भी आध्यात्मिक साधना का चोला पहने रहता है तो क्या वह सच्ची साधना कर सकता है ? जिसके जीवन मे मानवता का नैतिक धरातल भी नही बना हो, वैसी आत्मा भला महात्मा कैसे बन सकती है ?

निर्ग्रंथ श्रमण सस्कृति के प्रवाह में अपवित्रता लाने का किसी को अधिकार नहीं है। जो साधु साध्वी हैं, वे अहिसा व्रत एव अन्य व्रतो की परिपूर्ण साधना में निमग्न बने तो अपने अणुव्रतों की दृष्टि से श्रावक श्राविकाएँ भी अपने साधना पथ पर चले, लेकिन दोनों वर्गो का एक दूसरे वर्ग के प्रति साधना की दृष्टि से सावधानी दिलाने का कर्त्तव्य होता हे कि श्रमण सस्कृति के प्रवाह में कहीं से भी अपवित्रता का प्रवेश न हो।

अहिसाव्रत की सूक्ष्म मर्यादाओ का कहाँ तक पालन होता है ?

आज के साधको और श्रावको को उस समय के साधको और श्रावको के साथ तुलनात्मक दृष्टि से देखने का प्रयास करे। आज के युग मे अहिसा व्रत को अगीकार करके सत लोग इसकी सूक्ष्म मर्यादाओ का कहा तक पालन कर रहे हैं ?

कुछ दिन पहले एक भाई महेन्द्रसिह वेदी आये थे। उन्होंने इच्छा प्रकट की कि मुझे माईक लगवा कर बोलना चाहिये। मैंने उनको साधु जीवन की अहिसा का परिचय दिया और बतलाया कि साधु जीवन मे अहिसा की रक्षा के लिये माईक का प्रयोग उपयुक्त नहीं है। यदि साधु जीवन में ध्वनि यत्रो का प्रयोग होता है तो उससे विद्युत् के जीवाणुओ का हनन होता है। वैसे भी विद्युत एक भयकर शस्त्र है जिसका कहीं जरा सा भी दुरूपयोग हो जाय तो वह अपना सहाकर रूप भी प्रकट कर सकती है। ऐसी विद्युत् को साधु प्रयोग मे लाता तो वह हिसा की अनुमोदना करता है। इसके सिवाय तेउकाय की विद्युत् को बादर कहा गया है। कई लोग यह कहते हैं कि आकाश की विद्युत् अलग होती है लेकिन यह सही नहीं है। आकाश की विद्युत् और प्रयोगशाला की विद्युत् एक ही है। सघर्ष की स्थिति स्वतत्र होती है। सघर्ष से पैदा होने वाली सारी विद्युत् बादर तेउकाय होती है। अब ऐसी बादर तेउकाय को सन्त समुदाय काम मे ले तो वह तीर्थंकरो का अनुगामी रहेगा या प्रतिगामी होगा ? पिता की परम्परा मे रहने वाला पुत्र परम्परा का सरक्षक कहलायगा अथवा पिता की परम्परा को छोडकर गलत रास्ते चलने वाला पुत्र ? आज के साधको के महाव्रत तीर्थकरों के महाव्रतो जितने मजबूत नही है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि श्रावक उनके वहा फूलमाला पहिन कर जावें। जिनके महाव्रत कच्चे हैं, वे व्याख्यान स्थल पर माईक में बोलने लगते हैं, बिजली के चलते पखों के नीचे बैठते हैं और बिजली की रोशनी से चमकते हॉल मे उपदेश देते हैं उसमे कितने छोटे मोटे जन्तुओ की हिसा हो जाती है – उस पर आज के साधक चिन्तन क्यों नही कर पाते हैं ?

आधुनिक युग के साधनो को लेकर कुछ भाई उमग के साथ कहने लगते हैं कि माईक का प्रयोग किया जाना चाहिये। ऐसी प्रेरणा देने वालो को शायद शास्त्रीय ज्ञान नहीं है। ऐसी प्रेरणा देकर तीर्थंकरों की परम्परा को सुरक्षित नहीं रख सकेगे। भगवान् के समवशरण में फूलमाला तक पहिन कर नहीं जाते थे तो सोचिये कि विद्युत् का उपयोग कितनी बडी जीव हिसा का कारण बन सकता है ? इसका समर्थन करना अहिसा महाव्रत के पालन में कमजोरी पैदा करना है। सच पूछे तो व्रत पालन में पहले ही कमजोरी आ रही है और फिर कमजोरी को

प्रोत्साहन दिया जावेगा तो वह कमजोरी क्या विकृति में नहीं बदलने लगेगी।

कभी कोई सत कहते हैं कि हम क्या करें, ये गृहस्थ स्वय ही माईक लाकर रख देते है। गृहस्थ रख देते हैं और वे बोल देते हैं – क्या अजीब तमाशा है ? क्या गृहस्थ बिना सन्तो की इच्छा समझे ही माईक लाकर उनके सामने रख देते हैं ? सत उपयोग मे ही नही लावे तो गृहस्थ क्यो लाकर रखेंगे ? सच्ची बात तो यह है कि साधक अपने महाव्रतो को सुरक्षित बना कर तीर्थकरो की परम्परा को आगे बढावे तो अच्छा है। यदि आगे नहीं बढा सके तो कम से कम गिराने में तो सहायक नही बने।

अपने को गिरा कर दुनिया की भलाई कैसे होगी ?

आप भी न्यायाधीश की तरह तटस्थ भाव से चिन्तन करे। अहिसा की रक्षा के लिये ही तो मुख पर मुखवास्त्रिका बाधते हैं। खुले मुह बोलेगे तो मुह की गर्म हवा से वायुकाया के जीव मरेंगे। बोलते समय वे जीव मुह मे चले जायेगे तो अन्दर से और बाहर से हिसा होगी। पास में बैठने वाले पर थूक गिरेगा तो उसका अपमान होगा और अपमान करना भी हिसा है तो मुखवास्त्रिका बाधना, रजोहरण लेकर खुले पाव चलना आदि सभी अहिसा के प्रसग से किया जाता है।

जब अहिसा की ऐसी सूक्ष्म मर्यादाएँ बताई गई हैं तो माईक का प्रयोग करने वालो का यह कहना कहाँ तक उचित है कि ऐसा हम दुनिया की भलाई के लिये कर रहे हैं ? वे यह नहीं सोचते कि अपने को गिराकर दुनिया की भलाई कैसी होगी ? इस विधि से लोग यह भी कह सकते हैं कि हम ब्लैक करते हैं तो दुनिया की भलाई के लिये करते हैं। कालाबाजारी करके उस पैसे को धर्मार्थ लगा देंगे तो क्या उनको स्वीकृति मिल जायगी कि कालाबाजारी करते रहो और धर्मार्थ मे लगाते रहो। क्या साधुओ को भी इस बात की स्वीकृति देदे कि अपने व्रतो को तोडते रहो और दुनिया की भलाई करने की बात कहते रहो। फिर तो प्रत्येक अपराधी भी इसी ढाल को हाथ मे पकड लेगा। डाकू भी कहेगा कि मुझे पापी कहते हो – मैं भी तिजोरियों से धन को लूट कर गरीबों में बाट देता हूँ ? अगर महाव्रत तोडने वाले साधु को धर्मी कहेंगे तो इस डाकू को भी धर्मी कहना पडेगा। लेकिन ऐसा नहीं है और महाव्रत तोडने वाले साधु उस कलक से वचे नहीं रहेंगे।

महेन्द्रसिह जी वेदी मेरे से खुले मुह वात करने लगे तो मैंने मुह के रूमाल लगाने को कहा तो भी उन्होंने आश्चर्य प्रकट किया। रूमाल लगा लिया। उनको तो इसका भी आश्चर्य हो रहा होने पर महाराज की आवाज कितनी-कितनी दूर तक प

हजार जनता भी शान्ति से इस आवाज को सुन सकती है। मेरा कहने का अभिप्राय यह है कि अहिंसा की भावना शुद्ध है और साधना ठीक से चल रही है तो माईक लगाने की आवश्यकता नहीं रहती है।

और आवश्यकता भी हो तो व्याख्यान जनता को सुनाने के लिये साधु जीवन को नहीं खो सकते हैं। यदि साधु जीवन को खो देते हैं तो साधु ही नहीं रहते हैं। स्वय ही गिर जायेंगे तो श्रोताओं का क्या भला कर लेंगे ?

अहिंसा के मूल महाव्रत की सुरक्षा आवश्यक

रात्रि में एक भाई ने प्रश्न पूछा था मूल महाव्रत के बारे में तो मैंने कहा था कि कल्पना करो, तुमने उपवास का व्रत ग्रहण किया और दस हजार व्यक्तियों को जीमने के लिये अपने घर बुला लिया। वे जीमने के लिये आ गये लेकिन कहने लगे कि आप भी हमारे साथ जीमो तो हम भी जीमेंगे वरना नहीं जीमेंगे। दस हजार व्यक्ति वापस लौटने लगे तो उस हालत में आप क्या करेंगे ? पहले तो वे भाई उत्तर देने से हिचकिचाये, फिर बोले – मैं अपना व्रत क्यों तोडूंगा ? अगर वे इस कारण बिना जीमे जाते हों तो जावें। लेकिन उनके कथनानुसार भोजन भी कर लेते हैं तो सभी भोजन कर लेंगे। मैंने कहा कि कोई बात नहीं, तुमने भोजन कर लिया, लेकिन फिर उपवास तो नहीं कहलायगा न ?

उपवास तो एक उत्तर गुण है, इसमें भी इतना ख्याल रखा जाता है कि दस हजार व्यक्तियों को जिमाने के लिये भी उपवास तोड दिया जाय तो वह उपवास नहीं कहलाता है। फिर महाव्रत तो मूल गुण कहलाते हैं। जिन्होंने महाव्रत अंगीकार किये हैं, वे अगर उसको तोड देते हैं और फिर भी कहते हैं कि हम महाव्रती हैं तो यह कैसी न्यायसंगत बात हो रही है ? आध्यात्मिकता सीखने से पहले नैतिकता सीखनी चाहिये। पूर्व तीर्थंकरों के समवशरण की बातें ध्यान में रखते हुए चिन्तन करें कि उनकी पवित्र परम्परा को कैसे सुरक्षित रखें और उसको अधिक गौरवान्वित न बना सकें तो कम से कम उसको विकृत बनाने का दुस्साहस तो नहीं करें।

इसका तात्पर्य यह है कि साधु 'अहिंसा परमो धर्म' की महान् परम्परा का प्रतीक होता है। वह छ: काया का प्रतिपाल कहलाता है। वह अहिंसा की पूर्ण रक्षा के हेतु ही मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि उपकरण रखता है तथा स्वावलम्बनपूर्वक गृहस्थों के यहाँ से गोचरी करके निर्वहन करता है। समझिये कि साधु गोचरी लेने किसी गृहस्थ के मकान में गया और गृहस्थ ने बटन दबाकर बिजली की रोशनी कर दी तो चाहे साधु के मासखमण का पारणा हो और दूध भी निर्दोष मिल रहा

प्रोत्साहन दिया जावेगा तो वह कमजोरी क्या विकृति में नहीं बदलने लगेगी।

कभी कोई सत कहते हैं कि हम क्या करे, ये गृहस्थ स्वय ही माईक लाकर रख देते है। गृहस्थ रख देते हैं और वे बोल देते हैं – क्या अजीब तमाशा है ? क्या गृहस्थ बिना सन्तों की इच्छा समझे ही माईक लाकर उनके सामने रख देते हैं ? सत उपयोग में ही नहीं लावे तो गृहस्थ क्यो लाकर रखेंगे ? सच्ची बात तो यह है कि साधक अपने महाव्रतो को सुरक्षित बना कर तीर्थकरो की परम्परा को आगे बढावें तो अच्छा है। यदि आगे नहीं बढा सकें तो कम से कम गिराने में तो सहायक नहीं बनें।

अपने को गिरा कर दुनिया की भलाई कैसे होगी ?

आप भी न्यायाधीश की तरह तटस्थ भाव से चिन्तन करें। अहिसा की रक्षा के लिये ही तो मुख पर मुखवास्त्रिका बाधते हैं। खुले मुह बोलेगे तो मुह की गर्म हवा से वायुकाया के जीव मरेगे। बोलते समय वे जीव मुह मे चले जायेगे तो अन्दर से और बाहर से हिसा होगी। पास में बैठने वाले पर थूक गिरेगा तो उसका अपमान होगा और अपमान करना भी हिसा है तो मुखवास्त्रिका बाधना, रजोहरण लेकर खुले पाव चलना आदि सभी अहिसा के प्रसग से किया जाता है।

जब अहिसा की ऐसी सूक्ष्म मर्यादाएँ बताई गई हैं तो माईक का प्रयोग करने वालों का यह कहना कहाँ तक उचित है कि ऐसा हम दुनिया की भलाई के लिये कर रहे हैं ? वे यह नहीं सोचते कि अपने को गिराकर दुनिया की भलाई कैसी होगी ? इस विधि से लोग यह भी कह सकते हैं कि हम ब्लैक करते हैं तो दुनिया की भलाई के लिये करते हैं। कालाबाजारी करके उस पैसे को धर्मार्थ लगा देगे तो क्या उनको स्वीकृति मिल जायगी कि कालाबाजारी करते रहो और धर्मार्थ में लगाते रहो। क्या साधुओं को भी इस बात की स्वीकृति देदे कि अपने व्रतो को तोडते रहो और दुनिया की भलाई करने की बात कहते रहो। फिर तो प्रत्येक अपराधी भी इसी ढाल को हाथ मे पकड लेगा। डाकू भी कहेगा कि मुझे पापी कहते हो – मैं भी तिजोरियो से धन को लूट कर गरीबो मे बाट देता हूँ ? अगर महाव्रत तोडने वाले साधु को धर्मी कहेगे तो इस डाकू को भी धर्मी कहना पडेगा। लेकिन ऐसा नहीं है और महाव्रत तोडने वाले साधु उस कलक से बचे नहीं रहेगे।

महेन्द्रसिह जी वेदी मेरे से खुले मुह बात करने लगे तो मैंने मुह के सामने रूमाल लगाने को कहा तो भी उन्होंने आश्चर्य प्रकट किया। मेरे कहने से उन्होंने रूमाल लगा लिया। उनको तो इसका भी आश्चर्य हो रहा था कि मुहपत्ती लगी होने पर महाराज की आवाज कितनी-कितनी दूर तक पहुँचती है। पाच दस

हजार जनता भी शान्ति से इस आवाज को सुन सकती है। मेरा कहने का अभिप्राय यह है कि अहिसा की भावना शुद्ध है और साधना ठीक से चल रही है तो माईक लगाने की आवश्यकता नहीं रहती है।

और आवश्यकता भी हो तो व्याख्यान जनता को सुनाने के लिये साधु जीवन को नहीं खो सकते हैं। यदि साधु जीवन को खो देते हैं तो साधु ही नही रहते हैं। स्वय ही गिर जायेंगे तो श्रोताओं का क्या भला कर लेंगे ?

अहिसा के मूल महाव्रत की सुरक्षा आवश्यक

रात्रि मे एक भाई ने प्रश्न पूछा था मूल महाव्रत के बारे मे तो मैंने कहा था कि कल्पना करो, तुमने उपवास का व्रत ग्रहण किया और दस हजार व्यक्तियों को जीमने के लिये अपने घर बुला लिया। वे जीमने के लिये आ गये लेकिन कहने लगे कि आप भी हमारे साथ जीमो तो हम भी जीमेंगे वरना नहीं जीमेंगे। दस हजार व्यक्ति वापस लौटने लगे तो उस हालत मे आप क्या करेगे ? पहले तो वे भाई उत्तर देने से हिचकिचाये, फिर बोले – मैं अपना व्रत क्यों तोड़ूगा ? अगर वे इस कारण बिना जीमे जाते हों तो जावें। लेकिन उनके कथनानुसार भोजन भी कर लेते हैं तो सभी भोजन कर लेंगे। मैंने कहा कि कोई बात नहीं, तुमने भोजन कर लिया, लेकिन फिर उपवास तो नहीं कहलायगा न ?

उपवास तो एक उत्तर गुण है, इसमें भी इतना ख्याल रखा जाता है कि दस हजार व्यक्तियों को जिमाने के लिये भी उपवास तोड दिया जाय तो वह उपवास नही कहलाता है। फिर महाव्रत तो मूल गुण कहलाते हैं। जिन्होंने महाव्रत अगीकार किये हैं, वे अगर उसको तोड देते हैं और फिर भी कहते हैं कि हम महाव्रती हैं तो यह कैसी न्यायसगत बात हो रही है ? आध्यात्मिकता सीखने से पहले नैतिकता सीखनी चाहिये। पूर्व तीर्थकरो के समवशरण की बातें ध्यान में रखते हुए चिन्तन करे कि उनकी पवित्र परम्परा को कैसे सुरक्षित रखें और उसको अधिक गौरवान्वित न बना सके तो कम से कम उसको विकृत बनाने का दुस्साहस तो नहीं करें।

इसका तात्पर्य यह है कि साधु "अहिसा परमो धर्म" की महान् परम्परा का प्रतीक होता है। वह छ काया का प्रतिपाल कहलाता है। वह अहिसा की पूर्ण रक्षा के हेतु ही मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि उपकरण रखता है तथा स्वालम्बनपूर्वक गृहस्थो के यहॉ से गोचरी करके निर्वहन करता है। समझिये कि साधु गोचरी लेने किसी गृहस्थ के मकान मे गया और गृहस्थ ने बटन दबाकर बिजली की रोशनी कर दी तो चाहे साधु के मासखमण का पारणा हो और दूध भी निर्दोष मिल रहा

हो, लेकिन साधु उस घर को बिना आहार लिये ही छोड देगा और कहेगा कि तुमने हिसा कर दी। इस पर भी प्रयोग करेंगे तो भयकर अज्ञान की बात होगी। परोपकार की दृष्टि से भी अपना महाव्रत तोड दिया तो फिर पखें भी लगायेगे, रोशनी भी करायेगे और पक्का पानी नहीं मिल सका तो कच्चा पानी भी पी लेगे और नल का पानी भी चलेगा। इससे भी आगे चलेगे तो निरामिष भोजन नहीं मिल रहा है तो कच्चे फल भी काम मे लेगे। इस स्थिति से कार्य होता रहेगा तो सोचिये कि साधु आचार की कैसी दुर्दशा हो जायगी ?

अहिसा के मूल महाव्रत की सुरक्षा तो पूर्ण रूप से आवश्यक है ही। गृहस्थ लोग विद्युत्, कच्चा पानी, फल आदि आवश्यकता से अधिक भी काम मे लेलें तब भी वे यही कहेंगे कि हम तो अणुव्रती हैं , लेकिन जो अपने आपको महाव्रती कहते हैं और काम अणुव्रती जैसे करे तो समझदार व्यक्ति तो उनको भयकर अनैतिक ही कहेगा कि जो बात जैसी है वैसी क्यों नहीं कहते हैं ?

आज माईक का प्रसग, विद्युत् की स्थिति का प्रसग सब खुल रहा है। फिर हवाईजहाज, मोटरकार, रेल आदि का उपयोग सारा का सारा चल रहा है और यदि इन सब का प्रयोग करते हुए कह सकते हैं कि मैं साधु हूँ तो फिर ससार के विषयो में रहने वालो को असाधु नही कहना चाहिये। बहिनों से हाथ मिलाते हैं, चन्दा चिट्ठा करते हैं, पैसा पास मे रखते हैं, रेलगाडी तागा मोटर में बैठते हैं – इतना करते हुए भी साधु आचार रह जाता है तो फिर साधु और गृहस्थ में फर्क ही क्या रह जायगा ? फिर पोशाक का भी अलग रखने की क्या जरूरत है ? यह तमाशा जैसी विचित्र बात है फिर भी भद्रिक पुरुष गुमराह हो जाते हैं। यह विचित्र समस्या है जिसको समझने की आवश्यकता है।

इस त्यागमय सस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखे ।

सस्कृति की पवित्रता हो या साधु आचार की महत्ता वह एक बाध के समान होती है जिसकी मजबूत पाल से रक्षा हाती है। पाल की रक्षा मे जरा सी असावधानी असह्य होती है। अगर पाल मे कहीं से भी थोडा सा पानी रिसने लगा है और उसे नहीं रोका गया तो जल्दी ही पाल के टूटकर बाध के बह जाने की स्थिति आ सकती है। इसी रूप मे जो परोपकार की बात कह कर साधु आचार में – महाव्रत में दोष लगाने और फिर प्रायश्चित ले लेने की बात का समर्थन करते हों, उन्हे समझना चाहिये कि यह साधु आचार को नष्ट करने का समर्थन है।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि इस त्यागमय निर्ग्रंथ श्रमण सस्कृति को

अक्षुण्ण बनाये रखें। प्रचार करने की दृष्टि से प्रचारक के ध्यान से चले, लेकिन साधु अपने क्षेत्र को अलग रखे। श्रावक भी यदि महाव्रत की मर्यादाओ को तोडने वालों का सहयोग देगे तो उस व्यक्ति का भी अहित होगा और इस त्यागमय सस्कृति का भी अहित होगा। भावी पीढी यह समझेगी कि भगवान् के साधु वाहनो में बैठते थे, बिजली काम में लेते थे और माईक पर बोलते थे। ये बाते तीर्थंकरो की परम्परा को खत्म करने वाली हैं और इनको तटस्थ भाव से चिन्तन में लाने की जरूरत है।

आज भगवान् महावीर द्वारा निर्देशित साधु आचार की कैसा साधना चल रही है, अहिसा की सूक्ष्म मर्यादाओं का पालन हो रहा है या मूल महाव्रत को ही दोष लगाया जा रहा है, साधु लोग अपने सामान्य जीवन में किस तरह से चल रहे हैं, उनमे क्या कर्त्तव्य और उत्तरदायित्त्व हैं – इन सब बातों को परख कर चलेगे तो तभी सस्कृति की रक्षा कर सकेंगे।

नोखा
२२ ९ ७६

8

सुसंस्कारों के निर्माण का पथ

पथडो निहालू रे बीजा जिन तणो रे
अजित अजित गुण धाम।
जे मे जीत्या रे ते मुझ जीतिया रे
पुरुष किस्यू मुझ नाम।
पथडो निहालू रे

जिन्होने राग द्वेष को सर्वथा समूल नष्ट कर दिया एव जितनी आत्मा सम्पूर्ण विजय के साथ परमसिद्धि का वरण कर चुकी, ऐसी अजय स्वरूप आत्मा को अजितनाथ के नाम से सबोधित करते हैं। ऐसे परमात्मा के इस परम पवित्र आदर्श स्वरूप को भव्य जन प्रार्थना के रूप में अपनी आन्तरिक भावना अभिव्यक्त करते हुए साधना एव सुसस्कारो के निर्माण के पथ पर एक सम्बल मानते हैं।

आत्मा के साथ लगे हुए वशानुक्रमिक सस्कार

जब एक साधक साधना के क्षेत्र मे अपने चरण आगे बढाता है तो बाधक तत्त्व उसके चरणों को रोकने की चेष्टा करते हैं कि वह वापिस लौट जाय। ये बाधक तत्त्व कही बाहर से नहीं आते। भीतर बैठी आन्तरिक वृत्तियाँ ही अपने दूषित स्वरूप के साथ साधना को रोकना चाहती हैं। मन के भीतर मे अनादिकालीन वासनाओ के सस्कार जब प्रबल रूप धारण करके इस आत्मा के समक्ष उपस्थित होते हैं तो आत्मा के ऊपर भी उनका प्रभाव पडे बिना नहीं रहता है। जब तक आत्मा का कर्म क्षायिक भाव प्रकट नहीं होता, तब तक न्यूनाधिक रूप में पर-पदार्थो का प्रभाव बना रहता है। पूर्व बद्ध कर्मो की स्थिति के साथ जब उनका

रूपक सामने आता है तो उससे भी आत्मा प्रभावित होती है।

आत्मा के साथ यह प्रसग अनादिकाल से चला आ रहा है। एक दृष्टि से देखे तो वशानुक्रमिक रूप से ये सस्कार आत्मा के साथ लगे हुए हैं। कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से कर्मों का सम्बन्ध माना गया है। इस सम्बन्ध मे कहा गया है कि कर्म द्रव्य परमाणु पिड हैं। उसको कर्मों के स्कध की सज्ञा दी गई है। उसमे जिन तत्त्वों की स्थिति से आकर रस सग्रहित होता है उसे स्पर्धक माना है। स्पर्धक की स्थिति से उस का प्रवाह जुडता है और समय पर जब उदय की अवस्था बनती है तो मन के सभी क्षेत्रो में रस का सचय हो जाता है। परिणामस्वरूप आत्मा की शक्ति इस रस को ही देखने लगती है और उसके अधीन होकर पुन वैसा ही कार्य करने को तत्पर हो जाती है। इस कर्म सम्बन्धी सिद्धान्त के पारिभाषिक शब्दों को सरल शब्दो में रखना जरा मुश्किल है, किन्तु कुछ ध्यान से समझें तो समझ सकेंगे।

प्राचीन काल में कर्म सिद्धान्त से सम्बन्धित गूढ तत्त्वों, रस एव वशानुक्रमिक सस्कारों का विश्लेषण करना कुछ कठिन था, फिर भी ज्ञानी जन समय-समय पर उनका विश्लेषण करते आये हैं और भव्य जनों को समझाने का प्रयास करते रहे हैं। लेकिन वर्तमान युग मे वैज्ञानिक प्रगति के साथ जनमानस के मस्तिष्क मे सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व को समझने की जो क्षमता अर्जित हो रही है उसके फलस्वरूप आज की युवा पीढी विशेषकर वैज्ञानिक सस्कारों वाले कर्म सिद्धान्त को समझना कुछ सरल बन गया है। बुद्धि विकास के साथ चिन्तन की शक्ति भी बढ रही है। इन परिस्थितियो के सदर्भ में कर्म सिद्धान्त की बारीकियों को एव वैज्ञानिक अनुसधानो को जब मैं श्रोताओ के समक्ष रखना चाहता हू तो यही चाहता हू कि वे शान्तिपूर्वक सुने और यदि आज उन्हें नहीं समझ पावेंगे, लेकिन चिन्तन करेंगे तो एक दिन अवश्य समझ लेगे। आत्मा के साथ लगे हुए वशानुक्रमिक सस्कार किस प्रकार अपना प्रभाव दिखाते हैं और किस प्रकार सुसस्कारों का निर्माण करके उस प्रभाव की दिशा मे परिवर्तन लाया जा सकता है – इस विषय को बारीकी से समझना चाहिये।

कर्म सिद्धान्त की स्थिति का वैज्ञानिक जगत् मे स्पष्टीकरण

कर्म सिद्धान्त की स्थिति को लेकर अनुवेक्षिक शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह शब्द आज के वैज्ञानिक जगत् मे स्पष्ट रूप में आ चुका है। भारत में जन्मे डॉ खुराना ने अमेरिका में जो वैज्ञानिक अनुसधान किये हैं और परीक्षण नली में 'जीन्स' का जो निर्माण किया है, वह वैज्ञानिक रूप से शरीर रचना का प्रयास

कहा जाता है। उनके इस अनुसधान से वैज्ञानिक जगत् मे काफी हलचल मची है कि 'जीन्स' की सहायता से परीक्षण नली के द्वारा मानव शरीर की रचना की जा सकेगी। यह उपलब्धि उन्होने काफी वर्षो मे प्राप्त की। उन्होने सोचा कि बेक्टरिया जीवाणुओ और मानवीय जीन्स में सादृश्य है और इस कल्पना के आधार पर वे आगे बढे, लेकिन जिन जीन्स का निर्माण किया गया है, उनमें सिर्फ १२६ न्यक्रोटाइन निर्मित हैं, जबकि मानवीय जीन्स मे लाखों की सख्या में न्यक्रोटाइन्स रहते हैं। शास्त्रीय ज्ञान की दृष्टि से देखे तो समूर्छिम जीवो के रूप में जो स्थिति पैदा होती है, उसी का यह रूपक है।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार जहाँ भी जीवों की उत्पत्ति के योग्य स्थान बनता है अर्थात् जीवो की प्रारभिक आकार ग्रहण करने की योनि बन जाती है तो वहाँ पर सृष्टि मे विभिन्न रूपो मे परिभ्रमण करने वाले जीव उसमें उत्पन्न हो सकते हैं और उनके हलन चलन की प्रक्रिया दृष्टिगत हो सकती है। इसका स्पष्ट रूपक लेना चाहे तो जब पहली वर्षा होती है तब अन्तर्मुहूर्त मे बहुत सारे जीव पैदा हो जाते है और वे टर्राने लगते हैं। ये सारे के सारे कहा से आ जाते हैं ? वहाँ पर तो परीक्षण नलिका नही थी। अत्यधिक गर्मी के कारण दूषित तत्त्व हट गये और वर्षा होने पर जीवो की योनि बनी, उनकी उत्पत्ति हुई तथा हलन-चलन की प्रक्रिया प्रारम हो गई। यह कुदरती तौर पर हुई और वैज्ञानिक प्रयोग से यही बात परीक्षण नली मे पैदा की गई। तो वहाँ पर भी समुर्छिम जीव पैदा हो सकते हैं। यह एक रूप में कर्म सिद्धान्त की स्थिति का वैज्ञानिक जगत् मे स्पष्टीकरण ही हुआ है।

वश परम्परा से आने वाले बाधक तत्त्वो के सस्कार

प्रार्थना मे कहा गया है कि मैं भगवान् अजिनाथ का मार्ग देखना चाहता हूँ। उन्होंने समग्र विषयों कषायो पर विजय प्राप्त कर ली, और सासारिकता उनको जीत नहीं पाई, इसीलिये वे अजित कहलाये। चाहे तो कोई भी भव्य आत्मा अजित बन सकती है, लेकिन उसके लिये उसको बाधक तत्त्वों तथा बाधक तत्त्वों के सस्कारो का निवारण करना पडेगा।

ये बाधक तत्त्व क्या हैं ? वश परम्परा से आने वाले इनके सस्कारों से आत्मा को छुटकारा कैसे मिल सकेगा ? सीधे शब्दो मे कहे तो राग द्वेष मोह आदि विकार सबसे बडे बाधक तत्त्व हैं जो आत्म विकास के मार्ग को अवरुद्ध बनाये हुए हैं। ये बाधक तत्त्व अनादिकाल से आ रहे हैं तथा वश परम्परा से अपने अशुभ सस्कारो को लाद कर इस आत्मा को मलिन बनाते जा रहे हैं। वश परम्परागत

सस्कारो की स्थिति वैज्ञानिक अनुसधान की वशानुक्रमिकता से मेल खाती है। जिन सस्कारो मे जो व्यक्ति पाला पोषा जाता है, बडा होता है, तरूणाई में पहुँचता है तो उसके जीवन पर मूल में उसके पैतृक सस्कारो की छाप रहती है। अधिकाशत वे ही सस्कार उसके पूरे जीवन मे मजबूती पकडते रहते हैं। इस तरह वे सस्कार जो एक से दूसरी और फिर पीढी दर पीढी चलते रहते हैं उन्हें वश परम्परागत सस्कार कहते हैं।

ये वश परम्परागत सस्कार मुख्य रूप से उन बाधक तत्त्वो से सम्बन्धित होते हैं, किन्तु वीतराग देवो ने कहा है कि इन परम्परागत सस्कारों में आमूलचूल परिवर्तन किया जा सकता है। शर्त यह है कि आत्म साधना की जागृति उत्पन्न होवे तथा उस साधना में कठिन पुरुषार्थ का नियोजन किया जाय। इस प्रकार के पुरुषार्थ के माध्यम से बाधक तत्त्वों के ये सस्कार चाहे जितने दृढीभूत बने हुए हो, इनको छिन्न-भिन्न किया जा सकता है और नवीन सुसस्कारों के निर्माण से जीवन मे उच्चतम विकास साधा जा सकता है – ऐसा विकास जो अलौकिकता प्रदान करता है।

इस दृष्टि से परिवर्तन की दिशा स्पष्ट बन जानी चाहिये जो विकार रहित लक्ष्य की ओर ले जाती हो तथा उसके साथ ही आत्म विश्वास के साथ अथक पुरुषार्थ का प्रवाह फूट जाना चाहिये। फिर कोई कारण नहीं कि सुसस्कारों का निर्माण न हो।

सस्कारो मे परिवर्तन भावना और साधना के साथ

सस्कारों में परिवर्तन के तथ्यों को आप अपने चारो तरफ के क्षेत्र मे दृष्टि दौडायेगे तो भलीभाति देख सकेंगे। जिन परिवारों के सदस्य कुल परम्परा की दृष्टि से निरक्षर होते हैं, उनकी सन्तान शिक्षा तथा ज्ञान के क्षेत्र में अग्रगामी बन जाती है। आप अपनी स्थिति से ही चिन्तन करिये और वर्तमान को देखिए कि कई व्यक्ति ऐसे मिलेगे जिनके अपने जीवन मे ही व्यापक परिवर्तन आये हैं। डॉ 'खुराना को ही देखिये कि उनके माता-पिता हिन्दुस्तान मे किस स्थिति में होगे और वे कितने बडे वैज्ञानिक बन गये हैं।

सस्कारो मे परिवर्तन कठिन नहीं है। कठिन इतना ही है कि आत्मा की लगन लग जाय एव भावना व साधना का श्रेष्ठ सन्तुलन बैठ जाय। यह कठिनाई सुन्दर रीति से हल हो जाय तो बाधक तत्त्वो के सस्कार कितने ही जटिल क्यों न हो – उनको दूर करने मे तथा उन्हे दूर करके उनके स्थान पर श्रेष्ठ सस्कारों का निर्माण करने मे फिर उतनी कठिनाई का अनुभव नहीं होगा। वश परम्परा के

सस्कार इतने स्थायी नहीं होते कि भावना और साधना के बल से उनमें परिवर्तन न ला सके। जीवन के सस्कार एक बडी मशीन के समान होते हैं कि उसके पुर्जे खराब हो जावे तो उन्हे बदलते रहें। यह बदलने वाली होती है आत्मा, जो केवल 'सस्कारो को क्या, समस्त जीवन के स्वरूप को बदल सकती है -- जीवन को नया उन्नायक रूप दे सकती है। यह आत्मा की गुणशीलता पर निर्भर करता है।

वीतराग वाणी ने तो इस गुणशीलता को सर्वोच्च महत्त्व दिया है। वहाँ कहा गया है कि जन्म से जाति का निर्धारण नही किया जाय बल्कि कर्म से जाति समझी जाय। कर्म का अर्थ है कार्य और कार्य श्रेष्ठ है तो वह गुणशीलता का ही प्रतीक होगा। शास्त्रकारो ने बताया कि कर्म से ही ब्राह्मण होता है तो कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य तथा कर्म से ही व्यक्ति शूद्र होता है।

इस गुणशीलता की मान्यता के पीछे क्या भाव छिपा हुआ है ? स्पष्ट है कि इस तरह वश परम्परा को मान्यता नही दी गई है। वश से मिले हुए सस्कार मुख्य नहीं है बल्कि मुख्य वे सस्कार हैं जो अपने पुरुषार्थ से निर्मित किये जाते हैं। जैसे कार्य किये जाते हैं, उनके अनुरूप वशिक सस्कार भी बदलते हैं। लेकिन याद रखिये कि जल्दी नहीं बदलते हैं। कभी-कभी तो पीढियाँ लग जाती हैं, तब कहीं जाकर सस्कारों मे परिवर्तन आता है। फिर भी सामान्य रूप से व्यक्ति अपनी भावना और साधना के साथ अपने ही जीवन में, सस्कारों मे परिवर्तन ला सकता है।

सुसस्कारो के निर्माण का अजितनाथ का पथ

सुसस्कारों के निर्माण का भगवान् अजितनाथ द्वारा बताया गया पथ ऐसा पथ है जिस पर चलने से सस्कारो मे इतना श्रेष्ठ परिवर्तन तक लाया जा सकता है जो वीतराग स्वय के सस्कार बन जाय। सन्त मुनिराज ससार के मोहक वातावरण का परित्याग करके जब साधना के पथ पर अग्रसर होते हैं और जब उनकी साधना तीव्रतम बनती है तो उस समय उत्पन्न क्षायिक भाव की तेजस्विता से बाधक तत्त्वो के सस्कार समूल नष्ट कर दिये जाते हैं। इस दृष्टि से शास्त्रकारो ने सन्त परम्परा मे प्रविष्ठ होने वालो के लिये जाति और कुल शब्द का प्रयोग किया है कि वे जातिवान और कुलवान हों। विशेषण देकर द्योतन किया है कि जो जातिवान होता है, वह अपने सस्कारो को पवित्र रखेगा। जिसका मातृपक्ष शुद्ध होगा, उस पक्ष के अनुसार उसमे शुद्धता होगी और वह जातिवान कहलायगा। जिसका पितृपक्ष शुद्ध होगा, वह कुलवान कहा जायगा।

स्वर्गीय आचार्य श्री एक रूपक फरमाया करते थे कि एक बडे सेठ के घर मे एक सुकुमार पुत्र का जन्म हुआ। परिवार के अनुरूप उसको शिक्षण मिला। वह

गुणी भी था और चतुर भी था। सेठ ने विचार किया कि इसका सम्बन्ध भी ऐसी गुणी कन्या के साथ किया जाय ताकि इनका दाम्पत्य जीवन सुखी बन सके। सेठ ने अपनी दृष्टि से एक गुणवती कन्या की खोज की और सेठानी को अपनी खोज बताई तो सेठानी ने भी कहा कि उसने भी अपने पुत्रवधु की खोज की है और अमुक सेठ की कन्या श्रेष्ठ है। सेठ ने कहा – तुम बता रही हो वह कन्या तो श्रेष्ठ है लेकिन मुझे मालूम है कि उसके परम्परागत सस्कार अच्छे नहीं हैं। सेठानी ने कहा – यह आप कैसे कहते हैं ? तो सेठ ने बताया कि उसकी नानी की नानी ने चुहिया मार दी थी। सेठानी ठहाका मारकर हसी कि आपने भी खूब कही। सेठ ने तो मना ही किया, पर सेठानी नहीं मानी और वह सम्बन्ध कर लिया गया और धूमधाम से शादी भी हो गई।

एक समय सेठ सेठानी को अपने किसी सम्बन्धी के यहाँ बाहर विवाह में जाने का प्रसग आया। दोनो सोचने लगे कि जाते हैं तो पीछे से घर को कौन सम्हालेगा और नहीं जाते हैं तो सम्बन्धी नाराज होते हैं। ऐसे वक्त मे पुत्रवधु आ गई और उसने चिन्ता का कारण पूछा तो सेठ सेठानी ने अपनी दुविधा बता दी। पुत्रवधु ने सहर्ष कहा कि आप सब विवाह मे पधारिये। मैं घर पर रह जाऊगी, आप कोई चिन्ता न करे। सभी विवाह मे चले गये – घर पर केवल पुत्रवधु रह गई।

पीछे से सेठ से मिलने उनके एक सबधी आये यह सोचकर कि इधर से निकले हैं तो मिलते जावे। हवेली के बाहर उन्होने आवाज दी तो पुत्रवधु ने बताया कि सेठ सा व सभी विवाह मे गये हैं, वह अकेली ही है। उसने सम्बन्धी से भोजन करके जाने का आग्रह किया तो वे मान गये। उस जमाने मे जेवर पहनने का बडा रिवाज था और पुरुष भी कीमती और काफी जेवर पहनते थे। सेठ के उस सम्बन्धी ने भी बहुत सारे आभूषण पहिन रखे थे जिनको देखकर पुत्रवधु की भावना बिगड गई। उसने सुस्वादिष्ट भोजन बनाया लेकिन उसमें जहर मिला दिया। उस सम्बन्धी ने भोजन किया तो तुरन्त उन पर जहर का असर होने लगा। थोडी देर में तो वे सदा के लिये सो गये। पुत्रवधु ने तब उनके जेवर उतार लिये और लाश को चौक में गड्ढा खोदकर दबा दी। सारे आभूषण उसने छिपाकर रख लिये।

थोडे दिनो बाद सेठ और सब लोग आये तो उन्होने पुत्रवधु की कुशल क्षेम पूछी, लेकिन अपनी सारी बातचीत मे उसने उस मामले की कोई भनक नहीं पडने दी। उस सम्बन्धी के परिजन तलाश करते हुए वहाँ आये तो सेठ के पडौसियो से मालूम हुआ कि उन को सेठ की हवेली मे जाते हुए तो देखा था, लेकिन बाद मे क्या हुआ जिसका कुछ पता नहीं। पुलिस में रिपोर्ट हुई और पता लगा तो पुत्रवधु से पूछताछ हुई और लाश बाहर निकाली गई। सारे परिवार वाले जेल में

डाल दिये गये तब सेठ ने सेठानी से कहा – देख, मैंने कहा था कि इसके जातिगत सस्कार अच्छे नहीं हैं – इसकी नानी की नानी ने चुहिया मारी थी। चुहिया मारने के सस्कार ने मनुष्य की हत्या करा दी। कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य के खून मे पहुँचने वाले कुसस्कार भी लम्बे वर्षो के होते हैं और उनके परिवर्तित होने में भी समय लगता है।

परन्तु मैं बता रहा था कि अजितनाथ भगवान् के मार्ग पर चलें तो आत्मोन्नति मे बाधा डालने वाले परम्परा से सलग्न विकारी तत्त्वों के सस्कार समाप्त होते चले जायेगे । कारण जहाँ पुरुष का पुरुषार्थ मोर्चे पर डट जाता है तो विकार कितना ही तीक्ष्ण क्यों न हो – सत्पुरुषार्थ के आगे टिक नहीं सकता है। फिर तो सुसस्कारो का निर्माण होकर ही रहता है एव जीवन का स्वरूप पवित्र व शुद्ध बन जाता है।

सुसस्कार निर्माण के साक्षी ये धर्मपाल बन्धु

आज आप यहाँ देख रहे हैं कि मालव प्रदेश के कई भाई बैठे हुए हैं जिन्हें धर्मपाल के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इन्होंने अपने वश परम्परागत के कुसस्कारो को बदलने का प्रयास किया है और ये अपने जीवन में सुसस्कारों का निर्माण कर रहे हैं। इनको सुसस्कार निर्माण के साक्षी के रूप में आप देख सकते हैं। उनके क्षेत्र में सुसस्कार निर्माण का कार्य निरन्तर चल रहा है। कुछ वर्षो पूर्व के सस्कारों में ये लोग आमूल चूल परिवर्तन कर सकते हैं लेकिन शर्त यह है कि सगाई सम्बन्ध करने में इनका बराबर सही ध्यान रहे। कारण एक तो अपनी जाति के वैसे लोग हैं जिन्होंने अभी तक धर्मपाल बनना अगीकार नहीं किया है तो दूसरी ओर ये लोग हैं, जो धर्मपाल बनकर अपनी सस्कार शुद्धि कर रहे हैं । दोनो वर्गो के बीच में जब सगाई सम्बन्ध होता है तो सस्कारो की समस्या सामने आती है। सुसस्कारी कन्या दूसरे वर्ग में चली जायगी तो वह कष्ट मे पड जायगी तथा दूसरी और उधर से कुसस्कारी कन्या इधर आ जायगी तो वह घर के वातावरण को बिगाड देगी। यह बात इन भाइयों को सोचनी है। मैं सम्बोधन करता हूँ कि जो कदम ये उठा सकते हैं, वह कइयो ने उठाया है। उनको सस्कार देने वाले समाज के अगुआ-साधुमार्गी जैन सघ के सदस्य प्रयास कर रहे हैं। इन लोगों के वश परम्परागत सस्कारो को बदलने की कोशिशे की जा रही है और की जानी चाहिये। इस प्रकार की स्थिति मनुष्य की जब बन जाती है तो उस समय सस्कार परिवर्तित करने का अवसर विचारपूर्वक कार्यशील बनता है और विचारपूर्वक कार्य होने से उसे थोपने की सज्ञा नहीं दी जा सकेगी। विचारो के साथ जो सस्कार

परिवर्तित किये जायेंगे, वे सस्कार इजेक्शन से बदले हुए नहीं होगे, क्योकि वैसे सस्कार को समय पर वापिस भी उखाडे जा सकते हैं और वह पद्धति कृत्रिम कहलायेगी। इसलिये जो भी परिवर्तन किया जावे, वह विचारों के साथ होना चाहिये।

विचारो के साथ सस्कारों मे जो परिवर्तन किया जाता है, वही परिवर्तन स्थायी रहता है । यदि इस दृष्टि से विचार शुद्धि और सस्कार शुद्धि चलती रही और इस शुद्धि का लक्ष्य भगवान् अजितनाथ के मार्ग पर चलने का रहा तो ये धर्मपाल बन्धु अपने उन्नत जीवन के साथ समाज में अग्रगामी बन सकेगे। इनको, आपको, हमको और सबको भगवान् अजितनाथ के मार्ग पर पूरी भावना और साधना के साथ चलना है क्योकि इस मार्ग पर गति करने की जिनकी प्रबल भावना बन जाती है तथा साधना मे परम पुरुषार्थ प्रकट हो जाता है, वैसी आत्माएँ अपने जीवन को – अपने सर्वस्व को परमात्मा के चरणों मे समर्पित करने को तत्पर हो जाती है। यह सर्वस्व समर्पण सुसस्कारो का श्रेष्ठतम स्वरूप होता है।

वैराग्य कब आता है ?
जब सुसस्कारो का पुज कार्यशील बनता है।

आज आपके समक्ष एक प्रसग आ गया जिसे सुना भी और देखा भी। रभा देवी धाडीवाल के सस्कार भी पहले इन बहिनो जैसे ही थे। ये भी एक रोज पर्दे में बैठती होगी। शायद जब सम्पत मुनि जी गृहस्थाश्रम में थे तब अपने परिवार जन के समक्ष बोल भी नहीं पाती होगी। वही आज आप सबके समक्ष अपने भाव व्यक्त कर गई। वश परम्परा के सस्कारो मे ऐसा परिवर्तन क्या उनके साहस का प्रतीक नहीं है ?

वश परम्परा से कौनसे सस्कार चले आ रहे हैं ? परिवार मे जन्म लेना, खेलना, पढाई कर लेना, तरुणाई में प्रवेश करके व्यापारी बन जाना, सम्बन्ध जोड कर शादी कर लेना, बाल बच्चों का पोषण करना, उनकी शादी कर देना, मकान बना लेना और सोच लेना कि हम कृतकृत्य हो गये। ये ही तो सस्कार हैं। मेरे भाई और क्या कर रहे हैं ? जिनकी वृद्ध अवस्था आ गई है, उनको भी कहे कि अब तो विरागी बन जाओ तो यही उत्तर देगे कि महाराज, अभी तो परिवार से सम्बन्ध नहीं तोड सकता हू। शास्त्रकार कहते हैं कि ऐसे लोग जीवन का सही मूल्याकन नही कर सकते हैं।

वस्तुत वैराग्य कब आता है ? जब सुसस्कारो का पुज जीवन में कार्यशील बन जाता है। ये सुसस्कार विचारो मे परिवर्तन लाते हैं ओर वस्तु स्वरूप को समझा कर वास्तविकता का दर्शन कराते हैं। वैसी स्थिति मे ससार की वासनाओं

और कामनाओं से स्वत वैराग्य हो जाता है। विरागी बनकर जो दीक्षा लेते हैं और साधु धर्म ग्रहण करते हैं, वे भी इन्हीं सुसस्कारो को अपनी कठिन साधना से दृढीमूत करते हैं। आत्म विकास के लिये साधना करने की भावना विरलो की ही होती हैं। शास्त्रीय दृष्टि से देखे तो जम्बूकुमार, धन्ना, शालीमद्र आदि ने ऐसा आदर्श उपस्थित किया था, जो आज भी प्रेरणादायक है। आज भी ऐसे परिवार हैं जो इस आदर्श पर चल रहे हैं तो इसी आदर्श पर चलने का विचार रखते हैं। स्वय इन सम्पत मुनि जी का सारा परिवार ही इस तरह का है। रमा देवी जी यहाँ दर्शन करने के लिये उपस्थित हुई तथा जैसा उनका विचार चल रहा है, वह आपके सामने है। रमादेवी जी ने भी सम्पतमुनि जी के इस आदर्श को देखकर महावीर प्रभु के आध्यात्मिक सघ मे एक विशेष कार्य उपस्थित किया है। यह इनके वैराग्य की विशेषता है । वैराग्य की यह धारा इनके पूरे परिवार मे चल रही है।

आध्यात्कि सस्कारो की फुलवाडी खिलाइये

महावीर प्रभु की परम्परा में आचार्यों के क्रान्तिकारी चरणों से – प्रयासों से आध्यात्मिक सस्कारो की फुलवाडी खिल रही है। इसमे आपको तरह तरह के वृक्ष, लताएँ, फूल और पत्तियाँ दिखाई देगी जो सुकोमल सस्कारो के प्रकाश से आवृत्त हैं। उनकी सुगन्ध लेने में मैं भी आप के साथ हू। चतुर्विध सघ को भी प्रेरणा लेने की आवश्यकता है। व्यक्तिगत काम होते रहते हैं लेकिन सामूहिक आध्यात्मिक हित की भावना सम्पादित करके चलना बहुत महत्त्व की बात होती है। इसको प्रत्येक परिवार का सदस्य समझे और चलने की कोशिश करे।

स्वय त्याग लीजिये, विरागी बनिये, लेकिन त्याग और वैराग्य मे बाधक कभी मत बनिये। धर्म दलाली करने से भी पुण्यवानी बधती है। आध्यात्मिक सस्कारों की यह फुलवाडी जो खिली हुई है, इसको खिली हुई रखने मे और इसको अधिकाधिक खिलाने में अपना पूर्ण सहयोग दीजिये। यही सुसस्कारों का पथ है।

नोखा
२३ ६ ७६

9

नियति नहीं, पुरुषार्थ आत्मा का संबल

पथडो निहालू रे
बीजा जिन तणो

सदा काल के लिये अजय बनने की भावना रखने वाले भव्य प्राणी अपनी भावना के अनुरूप ही जीवन के आदर्शो का चयन करते हैं। जो आदर्श अजय स्वरूप को अगीकार कर लेता है, वह कभी किसी से भी पराभव को प्राप्त नहीं होता है। विजय मार्ग पर वह अजय बन कर ही रहता है।

वस्तुत आत्मा अपने मूल स्वरूप से अजय रूप को रखे हुए है, लेकिन बीच में कुछ ऐसे व्यवधान और आवरण उपस्थित हो गये हैं कि जिनसे इस आत्मा को हतोत्साहित होना पड रहा है। ऐसे हतोत्साह की दशा मे नियति को दोष दिया जा सकता है, लेकिन हकीकत में नियति कुछ नहीं, पुरुषार्थ ही सब कुछ होता है। यदि नियति कुछ है भी तो वह पुरुषार्थ की ही रचना है। अच्छी नियति अच्छे पुरुषार्थ से बनती है तो अपुरुषार्थ या विकृत पुरुषार्थ की अवस्था में नियति बिगड जाती है। बिगडी हुई नियति भी सत्पुरुषार्थ के बल पर सुधारी जा सकती है।

इस दृष्टि से नियति मात्र पुरुषार्थ की रचना है, उसका कोई स्वतत्र अस्तित्व नहीं है। नियति या भाग्यवाद हतोत्साह का कारण बनता है, उससे सत्प्रेरणा नहीं मिलती। इसलिये वास्तविकता यह है कि नियति नहीं, पुरुषार्थ ही आत्मा का उसकी विकास यात्रा मे सच्चा सम्बल होता है।

पुरुषार्थ तो आत्मा करती है, पर, वह कैसा पुरुषार्थ है ?

मूलत आत्मा सदा सर्वदा परम पुरुषार्थ को अपने स्वरूप मे लाकर चलना

चाहती है। यही भव्य आत्मा का लक्षण है। लेकिन अधिकाश आत्माएँ अपनी स्वय की शक्ति से अज्ञान होने के कारण अपने पुरुषार्थ को गलत दिशा में प्रवाहित करती रहती है और यह गलत दिशा होती है जड तत्त्वों को प्राप्त करने की लालसा में विकारों को बढाने की दिशा। ये विकारी तत्त्व सारे ससार मे छाये हुए हैं और अपने लुभावने स्वरूप से आत्माओ को व्यामोहित बनाते रहते हैं। इन्हीं से प्रभावित वातावरण चारो ओर दिखाई देता है। ऐसे प्रभाव क्षेत्र में भव्य आत्मा अपने पुरुषार्थ को साहस के साथ ही जगा सकती है एव उसे कार्यशील बना सकती है।

सत्पुरुषार्थ जगा कर जब आत्मा आगे बढती है तो प्रारभ मे इन जड तत्त्वों के व्यापक प्रभाव को देखकर सोच मे पड जाती है कि मेरे आत्मिक गुण अति स्वल्प है और इन स्वल्प गुणो के साथ इतने सारे विकारी तत्त्वों का सामना कैसे किया जा सकेगा ? तब सकल्प बनता है कि इनसे सघर्ष करना होगा और इन पर आत्मिक गुणों की विजय सम्पादित करनी होगी। इस सघर्ष के बिन्दु पर यह विपरीतता भी आ सकती है कि आत्मा भय से सत्रस्त बन जाय और अपने आत्मिक गुणो को भूल कर पुन मोहाविष्ट हो जाय। सघर्ष का सकल्प बनाना अति साहस का कार्य होता है। साहस विरली आत्माएँ ही दिखा पाती हैं।

पुरुषार्थ की भी तीन स्थितियाँ हो सकती हैं। एक तो सत्पुरुषार्थ की स्थिति, जो जब आत्मा मे जग जाती है तो वह आत्मा को सघर्ष के सुखद समापन के साथ अजयता के चरम बिन्दु तक पहुँचा देती है। दूसरी होती है अपुरुषार्थ की स्थिति जिससे कापुरुषता की स्थिति कह सकते हैं कि आत्मा प्रमाद लिप्त होकर कुछ भी नही कर पाती है। तीसरी असद् पुरुषार्थ की स्थिति जिसमे सासारिक आत्माएँ लगती और उलझती हैं। चेतना शून्य बन कर ये आत्माएँ अपने सारे पुरुषार्थ को जड तत्त्वो की प्राप्ति मे उलझा कर नष्ट करती रहती है। इस तरह देखे तो विदित होगा कि पुरुषार्थ तो आत्मा करती है लेकिन परीक्षा करने का असली बात है कि वह कैसा पुरुषार्थ कर रही है ?

आत्मा जब अपने वर्तमान पुरुषार्थ की सही समीक्षा करेगी, तभी वह अपने पुरुषार्थ की अपरूपता को पहिचान सकेगी। ऐसी पहिचान से ही पुरुषार्थ का रूप परिवर्तित किया जा सकेगा तथा जड तत्त्वो से सघर्ष का सकल्प बनाया जा सकेगा।

सघर्ष के सकल्प से सत्पुरुषार्थ का जागरण

जीवन मे दोनो प्रकार की वृत्तियो का – दोनो प्रकार के गुणों का अवस्थान होता है। सद्गुण भी होते हैं तो दुर्गुण भी होते हैं। इन दोनो का आभास मानव

मस्तिष्क मे प्रति समय हुआ करता है। उसी का बाहरी रूप व्यवहार मे दृष्टिगत होता है। जब दुर्गुणो की बहुलता बढती है तो बाहरी व्यवहार मे कलुषितता, कटुता और अपराध वृत्तियाँ फैल जाती हैं। तब जनता वातावरण में ऐसे विकारो को देखकर विक्षुब्ध सी हो जाती है और अपने धैर्य को सही तरीके से टिका नही पाती है। ऐसा विकारों का प्रतिनिधित्त्व आपको अक्सर करके आज की राजनीति के स्टन्टों मे दिखाई देता होगा। राजनीतिक वातावरण मे आजकल कई रूपो में इस तरह वितडावाद चलता है कि सामान्य जन के हृदय उद्वेलित हो जाते हैं। राजनेता वायुमडल को ऐसा दूषित बना देते हैं कि चारों ओर विकार ही विकार आच्छादित हो जाते हैं। उनकी सारी दुष्प्रवृत्तियाँ ढकी हुई रहे और जनता उनकी ओर देख न पाए – इस दुर्भावना से वे राजनेता मायावी नीतियों की रचना करते हैं। गुप्त मत्रणाओ एव गुप्त सधियो के जरिये वे राजनेता इस तरह की नारेबाजी लगाते हैं कि उनकी दुष्प्रवृत्तियाँ प्रत्यक्ष न आवे। उनका यह छद्म व्यवहार सारे समाज के वायुमडल को विकृत बनाता है। कभी-कभी सज्जन व्यक्तियो का मानस भी डोलायमान हो जाता है।

जब कभी राजनीतिक क्षेत्र में चुनावो के या प्रतिद्वन्दिता के युद्ध चलते हैं तो पक्षधर लोग कूटनीति और सच कहें तो झूठनीति से इस तरह अपनी स्थिति को बढा चढा कर रखते हैं कि अच्छे भले आदमी भी चक्कर में आ जाते हैं। आजकल अखबारों का प्रोपेगेंडा भी कम नहीं होता है, उसमें से सच को खोज निकालना भी बडा कठिन हो जाता है। वर्तमान मानव समाज के सारे वातावरण को तौलें तो ऐसा लगता है कि इसके असर से नैतिकता के धरातल पर चलने वाले निष्ठावान लोगो के भी पैर ठडे होते जा रहे हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी लें तो पूर्व मे भी विकारी तत्त्वो के ऐसे वातावरण के प्रसग आते रहे हैं। पौराणिक कथाभाग से चिन्तन करे तो महाभारत के समय मे क्या कुछ बना ? किस प्रकार अन्याय ने न्याय को कुचल देना चाहा ? रावण के विषय मे क्या कुछ कहू कि जिसने अपनी शक्ति के अभियान में अपनी दुर्वासना की किस तरह पूर्ति करनी चाही थी ? उसने सीता और राम को जीतने की कुचेष्टा की। श्री कृष्ण के समय में शिशुपाल और कस ने किस रूप में अपनी विकारी वृत्तियो का नगा प्रदर्शन किया ? वैसे ही विकारी तत्त्व वर्तमान समय में भी अपना कुप्रभाव दिखा रहे हैं।

इन्हीं विकारी तत्त्वों से सघर्ष करने का आज भी प्रसग उपस्थित है। ये विकारी तत्त्व व्यक्ति के अन्त करण मे भी फैले हुए हैं तो सामाजिक वातावरण मे भी फैले हुए हैं। व्यक्ति-व्यक्ति के विकार ही व्यवहार मे उतर कर समाज, राष्ट्र एव विश्व के वायुमडल को विकार पूर्ण बनाये हुए है। इन विकारो से सघर्ष करना होगा क्योकि उसके बिना न नैतिकता लाई जा सकती है और न आध्यात्मिकता ।

इस सघर्ष का सभी स्तरो पर सकल्प बनेगा, तभी सत्पुरुषार्थ का जागरण हो सकेगा।

सत्पुरुषार्थ की विजय सुनिश्चित होती है

यह एक शाश्वत तथ्य है कि सत्पुरुषार्थ की विजय सुनिश्चित होती है। ऊपर के सारे सदर्भो से आप प्रेरणा ग्रहण करिये और बताइये कि अन्ततोगत्वा विजय किसकी हुई ? कौन जयी रहा और कौन पराजित हुआ ? क्या रावण जीता या राम की विजय हुई ? दुर्योधन जीता या पाडवो की विजय हुई ? कस, शिशुपाल या जरासध को जीत नसीब हुई या विजय का सेहरा श्रीकृष्ण के मस्तक पर बधा ? सत्य वस्तुस्थिति यही है कि जहॉ नैतिकता एव धार्मिकता की भावना के साथ सत्पुरुषार्थ की साधना सफल हुई है, वहीं पर विजय आई है। ऐसी विजय के आगे विकारी तत्त्व पराजित होकर नष्ट हो जाते हैं। न्याय और नीति की सदा विजय होती रही है – इसमें कोई सन्देह नहीं।

ठीक वैसे ही मैं कभी-कभी चिन्तन करता हू कि पवित्र तीर्थकरों की निर्ग्रन्थ श्रमण सस्कृति के अन्तर्गत चलने वाले साधको के बीच मे कुछ सघर्ष दृष्टिगत हो रहा है। मैं तो इसको सघर्ष नहीं मानता, लेकिन इस सस्कृति के भव्य जन कभी-कभी इन सघर्षो को कुछ विशेष महत्त्व देने की कोशिश करते हैं। कुछ विकारी तत्त्व बाहर से भले दीखते हुए भव्य जनो को अपने पक्ष मे कर लेते हैं, लेकिन भीतर में इस सस्कृति को क्षति पहुँचाने की दुर्भावना से वे ऐसा वायुमडल बनाते हैं कि सस्कृति के सच्चे उपासकों की आवाज बन्द हो जाय। ये कुछ षड्यत्र जैसा वातावरण बनाते हैं जिसमे ईर्ष्या का अश अधिक होता है । किन्तु इस वातावरण से घबराने की जरूरत नहीं है, बल्कि सतर्क बनकर ऐसे वातावरण को परखना चाहिये और उसका पर्दाफास करना चाहिये।

ध्यान रखिये कि श्रेष्ठ तत्त्वो की रक्षा के लिये भी सत्पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। यह दुनिया मे दिखाई देता है कि अच्छी बात के समर्थक तो कम मिलते हैं, लेकिन विरोधी बहुत हो जाते हैं। तब उस अच्छाई को सुरक्षित रखने के लिये भी पुरुषार्थ करना पडता है। इस श्रमण सस्कृति की सुरक्षा मे भी यदि सबका पुरुषार्थ सजग बन जाता है तो विकारी तत्त्वो की कुछ नहीं चलेगी। श्रमण सस्कृति एव वीतराग वाणी की अजयता सदा काल बनी रहेगी।

महाविदेह क्षेत्र में श्रमण सस्कृति सदाकाल के लिये विख्यात है और इस वक्त यहॉ के लिये भी प्रभु महावीर की उदघोषणा है कि उनका शासन इक्कीस हजार वर्ष तक निरन्तर चलेगा। इस काल में अनुयायियों की सख्या कम ज्यादा

हो सकती है, कभी उदीय पूजा या कभी मन्द पूजा हो सकती है लेकिन शासन विच्छेद नहीं होगा – अखडता से चलेगा। इस वाणी मे यदि विश्वास है तो कलाबाजियो से – अशुद्ध वायुमडल से भव्य जनो को विचलित नहीं होना है। दृढ आस्था से एव सतर्क गति से वे अपना सत्पुरुषार्थ लगा कर अपने मार्ग पर चलते रहे। यह विश्वास रखे कि सत्पुरुषार्थ की विजय सुनिश्चित होती है।

अपने ही दिमाग से सोचे कि भाग्य सही है या पुरुषार्थ सच है ?

कई बार जब मानस के भव्य नक्षत्रो को बदलने के लिये होनहार और नियति का बल भी लिया जाता है और समझाया जाता है कि नियति से जो कुछ होना है वही होगा। यह भी कहा जाता है कि मनुष्य का पुरुषार्थ कुछ नहीं कर सकता, तुम क्यो मेहनत कर रहे हो ? जो ज्ञानियों ने ज्ञान में देख रखा है, वही बनेगा। ऐसी समझाइश से कई भाई उलझन मे पडकर सोचने लग जाते हैं कि क्या करे ? ये कह रहे हैं वह सही है अथवा जो खुद सोच समझ कर करने की बात है, वह सच है ? उनके दिमाग में बुनियादी सवाल यह खडा होता है कि भाग्य सही है – होनहार या नियति सही है अथवा मनुष्य का पुरुषार्थ सच होता है ?

मेरा यही कहना है कि इस सवाल पर आप खुद अपने ही दिमाग से सोचें। आप अपनी मस्तिष्क शक्ति की गरिमा को गिरवी नहीं रखे – बेच नहीं डालें। दिमागी ताकत तो किसी के हाथ पर छोड नही दे, उसे अपने हाथ में रखे। अपने पास में तुला की तरह देखने की कोशिश करे – हस चोच की भावना रखें। हस की चोंच मे यह ताकत होती है कि पानी मिले दूध में से वह दूध को अलग कर देती है और पानी को अलग। आप भी हस चोच रखकर अपने बौद्धिक धरातल पर चिन्तन करें कि नियति और भाग्य क्या होते हैं ? यदि आपको वीतराग वाणी पर विश्वास है तो उसमे ससार एव आत्मा की सम्पूर्ण गतिविधियों को नव तत्त्वों के रूप मे सग्रहित किया है तो क्या उसमें नियति या भाग्य नामक कोई तत्त्व बताया गया है ? भाग्य कोई अलग तत्त्व नही है। यह तो आत्मा की स्वय निर्मित पर्याय या स्वभाव का स्वरूप होता है। नियति के पीछे अपने पुरुषार्थ बल को छोडना अकर्मण्य बनकर जीवन को सकटग्रस्त बनाना तथा अपनी बुद्धि को अविकसित रख कर गिरवी डालना है।

आत्मा का सबसे बडा सम्बल पुरुषार्थ ही होता है। पुरुषार्थ बल के माध्यम से अपने भाग्य को तो आप मोड ही सकते हैं, लेकिन ससार के नक्शे तक को बदल सकते हैं। मानव समाज का आज जो विकास दृष्टिगत हो रहा है तथा विज्ञान की जो निरन्तर प्रगति हो रही है, क्या यह सब भाग्य के भरोसे हैं ?

विकास की यात्रा मे जो भाग्य की बात करता है, उसको बुजदिल और कायर समझा जाता है।

विकास की यात्रा मे नियति का कोई स्थान नही होता

मानव की स्थिति एक अपेक्षा से उन्नत है तो दूसरी अपेक्षा से – विकारी तत्त्वो की दृष्टि से उसका रूपक पशुओ के तुल्य भी कहा जा सकता है। फिर भी मानवीय धरातल पर विकास की जो परम्परा जिस रूप मे विकसित हुई है उसमें पुरुषार्थ का ही प्रभुत्त्व रहा है – नियति का उसमे कोई स्थान नहीं रहा।

आदि युग के युगलिये मानव पशुवत् जीवन जीते थे क्योंकि उनका निर्वाह प्रकृति पर निर्भर था, वे स्वय कोई पुरुषार्थ नहीं करते थे। उनकी तुलना में आज के मानव को देखें – उसके वर्तमान के विकसित स्वरूप की जाच करे तो भारी अन्तर प्रतीत होगा। कहाँ आदि युग का भोलाभाला मानव और कहाँ आज का प्रबुद्ध मानव ? आज के मानव ने चाहे दिशा दूसरी पकडी हो, लेकिन विज्ञान के विकास ने उसके विकास को पुरुषार्थ भरा मोड दे दिया है। आज वह भाग्य और नियति को लेकर चलने वाला नहीं है। एक वैज्ञानिक युग मे यदि कोई व्यक्ति नियति का प्रतिपादन करके जनता को समझाना चाहे कि वह कोई पुरुषार्थ न करे – जो भाग्य मे होगा वह मिल जायगा तो क्या जनता उसे मानेगी ? बीसवीं सदी मे ऐसा विचार रखना क्या उन्नीसवीं सदी में पिछड जाना नहीं कहलायगा ?

जहाँ युगलिये लोग कुछ नही समझते थे, वहाँ आज के वैज्ञानिक युग में रहने वाला युवक और बुजुर्ग भी तटस्थ भाव से चिन्तन करे तो स्पष्ट विदित होगा कि सारे वैज्ञानिक आविष्कार इस पुरुषार्थ के सहारे ही आविष्कृत किये जा सके हैं। यह दूसरी बात है कि वैज्ञानिक प्रगति का ऐसा हौवा खडा कर दिया कि जो कुछ है वह भौतिकता में है। यहाँ तो यह स्थिति समझने की है कि किसी भी विकास यात्रा मे नियति का काई स्थान नही होता – उसमे पुरुषार्थ और पूर्ण पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।

जिस समय अग्रेजो का राज्य भारतवर्ष पर था, उस समय फैरल नाम का एक व्यक्ति ब्रिटिश सरकार की तरफ से उच्चतर सेनापति बनकर आया और वह भारतीय कमाड का सेनापति रहा। यहाँ से वह बर्मा में सेनापति के पद पर पहुँचा। एक दिन वह अवकाश के समय अपने कुछ साथियों के साथ नदी तट पर मनोविनोद मे बैठा हुआ था, उस समय उसने देखा कि नदी के बहाव में एक तरूण व्यक्ति का मुर्दा शव बहता हुआ चला आ रहा है। वह बहुत दूर था अत उसने दूरबीन से देखा तो उसे दिखाई दिया कि एक अत्यन्त वृद्ध व्यक्ति उस शव

को पानी से बाहर खींच रहा है। उसने वह दृश्य अपने साथियो को भी दिखाया और वह उत्सुकतापूर्वक देखने लगा कि आगे क्या होता है ?

वह अत्यन्त वृद्ध व्यक्ति अपने हाथो से उस शव को लेकर एक वृक्ष के नीचे पहुँचा। थोडी देर में उनके आश्चर्य का ठिकाना नही रहा कि वह शव वाला तरूण व्यक्ति जैसे उठ कर चल पडा है तरूण जैसी ही चाल मे। सेनापति ने अपने साथियो से उस तरूण को पकड लाने का आदेश दिया । वे उसे पकड लाये। सेनापति ने पूछा – तुम तो मर चुके थे – तुम्हारे शव को मैंने देखा है, फिर तुम जीवित कैसे हो गये ? उसने कहा – मैं वह अत्यन्त वृद्ध हूँ जिसे आपने शव को खींचते हुए देखा होगा । तो फैरल ने पूछा – फिर तुम्हारा शव कहाँ है ? उसने बताया – वहीं झाडी में पडा है। वहाँ जाकर देखा गया तो शव मिल गया। यह सारी प्रक्रिया देखकर फैरल को बहुत ही आश्चर्य हुआ कि भारतीय विद्या कितनी विशिष्ट है। वह परकाया प्रवेश की विद्या थी।

यह परकाया प्रवेश भी एक पुरुषार्थ माना गया है। वीतरागी वाणी के अनुसार शरीर पाच प्रकार के कहे गये हैं– 1 औदारिक 2 वैक्रिय 3 आहारक 4 तैजस एव कार्मण। इनमें से औदारिक शरीर चर्म चक्षुओ से दिखाई दे रहा है। यह हाड मास रक्त से बना है। किन्तु यही मूल शरीर भी होता है। इसके अन्दर यह क्षमता है कि औदारिक शरीर पिड में रहने वाली आत्मा यदि पुरुषार्थ करे तो वैक्रिय शरीर की लब्धि प्राप्त कर सकती है। वैक्रिय शरीर औदारिक की तरह हाड मास का नहीं होता है। वैक्रिय वर्गणा के पुद्गल परमाणु सृष्टि मे व्याप्त हैं उनसे यह शरीर शक्ति प्राप्त करता है। उसी शक्ति का प्रयोग करते हुए वैक्रिय लब्धिधारी अनेक तरह के रूप धारण कर सकता है। वह मुर्दे से तरूण बन सकता है, पर काया में प्रवेश कर सकता है और नाना प्रकार के शरीर बना सकता है । उस सेनापति ने उस वृद्ध को तरूण बनते देखा– वह १९३९ की बात है। औदारिक शरीर वाला अपने योग पुरुषार्थ से वैक्रिय लब्धियाँ प्राप्त कर सकता है । इसके कई उदाहरण आपको सुनने को मिल सकते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि जो घटना आपको स्पष्ट रूप से चमत्कार दिखाई देती हो उस मे भी पुरुषार्थ का ही प्रयोग भीतरी दृष्टि से देखेगे तो दिखाई देगा।

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के लिये तो सम्पूर्ण सत्पुरुषार्थ चाहिये

ससार का कोई शुभ काम हो तो उसमें पुरुषार्थ चाहिये, विज्ञान के अनुसधान में पुरुषार्थ चाहिये और आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के लिये तो यह समझिये कि सम्पूर्ण

सत्पुरुषार्थ चाहिये। पुरुषार्थ ही नियति और भाग्य को बदल सकता है तो पुरुषार्थ ही आत्मा को मोक्ष के द्वार तक पहुँचा सकता है। ज्ञान और विश्वास के साथ मन मे दृढता होनी चाहिये, फिर पुरुषार्थ को फलीभूत होने से कोई शक्ति नहीं रोक सकती है। निर्ग्रंथ श्रमण सस्कृति की रक्षा भी इसी पुरुषार्थ के बल पर ही की जा सकेगी।

इस श्रमण सस्कृति में कभी विच्छेद आया है, लेकिन इसका विकृत रूप कभी नहीं रहा है। यह सस्कृति भगवान् ऋषभदेव से लेकर ९वे तीर्थंकर तक एक दूसरे के साथ जुडती हुई चलती रही। ९वें से १६वे तीर्थंकर के समय काल के बीच मे कुछ विच्छेद हुआ, तीर्थ में भी विच्छेद हुआ लेकिन १७वें तीर्थंकर से भगवान् महावीर के समय तक सस्कृति या तीर्थ के विच्छेद का प्रसग नहीं है। यह शास्त्रीय वाक्यावली है । आप कही यह न सोचे कि इस शास्त्रीय बात का वर्तमान से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि आपका मस्तिष्क वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक तरह तैयार है तो वैज्ञानिक तरीके से समझने का प्रयास करिये। एक-एक बात समझाने की कोशिश की जा सकती है – वैज्ञानिक धरातल से अधिक नहीं मिलेगा तो पीछे हटने वाली बात भी नही मिलेगी। यह भौतिक विज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान के सहारे आया है। आज के युग मे श्रमण सस्कृति के साधको को सुरक्षित रखने की कोशिश करे – उसे गौरव के शिखर पर पहुँचावे। यदि आप अपने स्तर पर उसे लाने की कोशिश करेगे और उस स्तर पर ले आये तो जो धधा आप कर रहे हैं, वही परिस्थिति और वायुमडल निर्ग्रंथ श्रमण सस्कृति के साधकों का बन गया तो फिर आध्यात्मिक मार्ग पर चलने का अवसर ही नहीं रहेगा।

आप स्वय सोचें कि आप आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के लिये सक्रिय हैं या नहीं ? महावीर का शासन चलेगा और श्रमण सस्कृति भी चलेगी, लेकिन उनकी सुरक्षा के लिये क्या निरन्तर पुरुषार्थ–रत नही रहना पडेगा ? देखिये कि आपका अपना पुरुषार्थ अभी कैसा है और क्या कर रहा है ? आपसे जब कहा जाता है कि आध्यात्मिक कार्यो में भाग लें तो आप कह देते हैं कि महाराज, फुरसत नही है, व्यापार धधे मे लगे हुए हैं, लेकिन आप नहीं सोचते कि आपका कार्य आपको ही करना है। आपका कार्य साधकों के जिम्मे नही होना चाहिये। वह कार्य उनके जिम्मे नहीं होगा तभी वे आध्यात्मिक धरातल पर साधना की सिद्धि कर पायेंगे। यदि आपको यह अभीष्ट है कि साधक भी गृहस्थ के धरातल पर आ जावें तो उनको ईमानदारी से कह दीजिये कि जो धधा हम करे वही आपको करना है – इसमें आपको लगना है – चाहे रूपक कुछ भी दीजिये, उनको ईमानदारी से अपने धरातल पर ले आइये। यदि आपको यह अभीष्ट है कि वीतराग के परम सिद्धान्तो के अनुसार आत्मा के स्वरूप को विकसित करते हुए साधक आगे वढे तो आप उन को दूसरी बातों से अलग रखे।

आधुनिक धरातल पर जो यत्किंचित् चमत्कार आप देखते हैं, उनसे बढ-बढ कर चमत्कार हमारी पवित्र सस्कृति में हैं। इस सस्कृति पर यदि आपको विश्वास है तो आप साधको को प्रेरणा दीजिये कि आप अपनी आध्यात्मिक साधना कीजिये – बाकी सब लेन देन, चन्दा चिट्ठी का काम हमारे जिम्मे छोड दीजिये। जो काम हम नहीं कर पाते हैं, वह आप करिये और ऐसा अपूर्व आदर्श सामने रखिये कि अपने ही क्या, दूसरे लोग भी आपका अनुसरण करें। इस प्रकार की प्रेरणा निर्ग्रंथ श्रमण सस्कृति के साधकों को देते हैं तो चाहे वे स्वल्प मात्रा मे ही हो लेकिन ऐसा नहीं सोचें कि वे कभी रहेंगे ही नहीं। डालडा घी की बहुतायत हो गई है तो क्या देशी घी रहा ही नहीं ? विकारी तत्त्व अधिक हो गये तो क्या निर्विकारी तत्त्व रहेंगे ही नहीं ? क्या जो प्रकाश है, वह लुप्त हो जायगा ? नहीं, लुप्त कभी नहीं होगा। जब तक आत्मार्थी महात्मा अपने सम्पूर्ण सत्पुरुषार्थ का प्रयोग करते रहेंगे तो आध्यात्मिक उत्क्रान्ति होती रहेगी और उससे ज्ञान और क्रिया का प्रकाश बढता रहेगा।

पुरुषार्थ नही हो तो–
फिर पुरुष का नाम ही क्या ?

यह सही हो सकता है कि ससार में विकारो की बहुलता है। बहुलता अज्ञान की है, बहुलता मिथ्यात्व की है तो बहुलता दुर्गुणों की है। सर्वत्र मलिन तत्त्व अधिक मिलेंगे तो क्या उनके बहुमत को देखकर भयभीत हो जाय ? ऐसा तो योग्य नहीं होगा। मैं आपको अजितनाथ भगवान् के चरणों में ले जाना चाहता हूँ, आप उन के मार्ग पर दृढता से चलें–

जे तुम जीत्या रे, ते मुझ जीतिया
पुरुष किस्यू मुझ नाम ?

चलेंगे आप उनके मार्ग पर ? बन सकेंगे पुरुष और दिखा सकेंगे अपना पुरुषार्थ उनके मार्ग पर चलकर ? प्रार्थना में क्या कहा गया है – जिन विकारो को तुमने जीते हैं, वे विकार मुझे जीत रहे हैं, फिर मुझे कैसा पुरुष कहा जाय ? यदि विकारों के विरूद्ध पुरुषार्थ नहीं कर सकते हैं तो पुरुष नाम धराना किसी भी तरह से योग्य नहीं दीखता है । पुरुषार्थ नहीं हो तो फिर पुरुष का नाम ही क्या ?

मेरे धर्मपाल भाई अजितनाथ के चरणों में आ रहे हैं तथा अपने विकारी जीवन में शुभ परिवर्तन लाने के लिये कठिन पुरुषार्थ कर रहे हें। चाहे ये अभी तक अधिक पढ लिख नहीं पाये हैं, लेकिन इनकी भावना बडी प्रबल है और पुरुषार्थ करने के लिये आतुर हैं। इनकी नमस्कार मत्र पर भारी श्रद्धा है। ये

सोचते हैं कि इस मत्र के रूप मे इन को अपूर्व रत्न मिल गया है। इनको देखकर आप सोचते होगे कि ये मजदूर जैसे कौन आ गये ? यदि आप वीतराग पर श्रद्धा रखते हैं तो अपने कलेजे पर हाथ रखकर चिन्तन करे कि इनकी तुलना मे आपका मानसिक धरातल कैसा बना हुआ है ? धर्मपाल भाइयो का पुरुषार्थ इसी रूप मे चलता रहा तो कोई आश्चर्य नहीं कि ये अपने जीवन का विकास उच्चतर रीति से सम्पादित कर ले।

मैं धर्मपाल भाइयो को सम्बोधित कर रहा हूँ कि आप किसी के सहारे पर नहीं रहे – स्वय के बल पर खडे होकर चलना सीखे। यह धर्म किसी वर्ग या जाति की थाती नही है – सच्चे अर्थ में आत्मार्थियों की थाती है, पुरुषार्थियो की थाती है। आप आत्म विश्वास के साथ स्वतत्र और स्वावलम्बी होकर चलिये। योगी लोग योग साधना प्रारम्भ करते हैं तो वे किसी का सबल नहीं रखते हैं – अपने आत्मबल एव पुरुषार्थबल के सहारे आगे बढ़ते हैं, उसी तरह आप भी पुरुषार्थी बनकर पुरुष की तरह चले। आप अपनी जाति वालो और पडोस मे रहने वालों को समझावे कि वे भी अपनी काली चादर को धोकर आपकी तरह ही दुर्व्यसनो का त्याग करके अपने जीवन को बदल दे। जीवन शक्ति और पुरुषार्थ के सहारे सब कुछ बदल सकते हैं – भाग्य को बदल सकते हैं, हाथ की रेखाओ को बदल सकते हैं। पुरुष का नाम रखना है तो पुरुषार्थ दिखाना ही होगा।

सभी पुरुषार्थ के सहारे दृढता के साथ चले।

मैं जैसे धर्मपाल भाइयो को कह रहा हूँ, वैसे ही सबको कह रहा हूँ। सभी अपने अपने कर्त्तव्यों का पालन करें तथा पुरुषार्थ के सहारे दृढ़ता के साथ चले।

आज आप जिस साधु सस्था के पीछे गौरवान्वित हैं, उसको पवित्र एव अक्षुण्ण रखने के लिये आपमे अडिग सकल्प बनना चाहिये। मिर्जापुरी लोटे की तरह न रहे कि गगा गये तो गगादास और जमुना गये तो जमुनादास बन जाय। सिद्धान्त को समझ कर उसकी मूल स्थिति के अनुसार चला जाना चाहिये। सिद्धान्तो के साथ समझौता नहीं किया जाता है। मूल सिद्धान्तो पर अडिग आस्था रखनी चाहिये तथा अडिग पुरुषार्थ दिखाना चाहिये। इस स्थिति से भाई चलें, बहिने चलें। माताए अपनी शक्ति को लेकर चलती हैं तो उसका असर भी जल्दी होता है। धार्मिक क्षेत्र मे वे बडी बडी तपस्याए करती हैं – मासखमण करती हैं लेकिन इनको कोई बरगलाने वाला मिल जाय तो डोलायमान भी जल्दी हो जाती हैं। कई माताएँ वीरागनाएँ हुई हैं और आज भी बहिने साहसी बन रही हैं और वे पुरुषार्थ दिखाने मे भी पीछे नहीं रहेगी।

कदाचित् आपको किसी क्षेत्र मे सन्तो के दर्शन कम मिलते हो तो आप वीतराग वाणी के अध्ययन मे अपने पुरुषार्थ को लगाइये लेकिन बहुरुपिये बन कर आने वाले स्वार्थियो के पीछे न चलें चाहे वे भगवान् महावीर का नाम धरा कर आवे। मेरे भाई यदि उनके पीछे चले गये तो उन्हें अजितनाथ भगवान् का मार्ग नहीं मिल पायगा।

पुरुषार्थ की दृष्टि से किसी भी क्षेत्र में पीछे नहीं रहे। ज्ञानार्जन की दृष्टि से अध्ययन करें, चिन्तन करे लेकिन उसके बारे मे जो प्रश्न आपके मस्तिष्क मे उठें, उन को पूछने मे सकोच न करे। एक और एक दो रूप सन्तोषजनक उत्तर मिले तो ठीक वरना तब तक प्रश्न करते रहिये। सारी शकाओ को निर्मूल कर ले। इस तरह ज्ञानार्जन का पुरुषार्थ चलेगा तो उसके साथ-साथ आचरण का पुरुषार्थ भी चल पडेगा। ये पुरुषार्थ जब श्रद्धा और विश्वास की भावना के साथ चलेगे तो यथायोग्य रीति से सफल भी बनेगे । पुरुषार्थ के सफल होने से पुरुष पुरुष ही नहीं रहता, बल्कि महापुरुष बनने की दिशा मे आगे बढ जाता है।

नोखा

२४ ९ ७६

10

जीवन की चरित्र-सम्पन्नता

पथडो निहालू रे
बीजा जिन तणो

परम पवित्र सदा सर्वदा अजय स्वरूप को जीवन पटल पर उभारते हुए उनके अजेय मार्ग का अन्वेषण करना है। प्रभु के अजेय मार्ग का अन्वेषण अन्तर्चक्षुओ से ही समव है जिनमे दिव्य ज्योति की झलक पैदा हो जाय। ऐसी दिव्य दृष्टि सबको चाहिये, क्यो चाहिये न ?

जब दिव्य दृष्टि की उपलब्धि होती है तो जीवन की चरित्र सम्पन्नता की ओर ध्यान केन्द्रित होता है। चरित्र सम्पन्नता के बिना जीवन में न सदाशयता प्रकट होती है, न तेजस्विता। व्यक्ति के जीवन मे तो चरित्र सम्पन्नता का अपूर्व महत्त्व है ही, लेकिन समाज और राष्ट्र के जीवन मे भी सामूहिक चरित्र सम्पन्नता के बिना सुख और स्मृद्धि की कल्पना नही की जा सकती है। आध्यात्मिक जीवन तो चरित्र-सम्पन्नता का मूर्तिमान जीवन होता है और ऐसे दिव्य जीवन के माध्यम से ही अन्त करण की भाव-धारा पवित्र परम्परा मे ढलती है तो उसी से आत्मा के दिव्य स्वरूप को अभिव्यक्त किया जा सकता है। जन मन की ऐसी शुभभावनाओ के प्रसग से ही सन्त जनों के जीवन को बल मिलता है तो सन्त जनो को भी ऐसी शुभ भावनाओ के निर्माण मे अपना योग देना चाहिये। सन्तों के जीवन की चरित्र सम्पन्नता सामान्य जन के लिये आदर्श बने तथा वही आदर्श उसे स्वय भी चरित्र सम्पन्न बनने रहने की प्रेरणा दे। इसके लिये वीतराग देव द्वारा निर्देशित मूल मार्ग को ग्रहण करना चाहिये।

वीतराग का मूल मार्ग है – चरित्र सम्पन्नता को प्रदीप्त बनाना

वीतराग का मूल मार्ग है – सम्यक् दर्शन-ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्ग। सच्ची श्रद्धा और सच्चा ज्ञान सच्चे चरित्र को विकसित करने के सशक्त साधन बनने चाहिये क्योंकि चरित्र सम्पन्नता को प्रदीप्त बनाये बिना लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है। एक तीर्थंकर की देशना का नहीं, चौबीसों तीर्थंकरों की देशना का और अनन्त-अनन्त तीर्थंकरो की देशना का यही निष्कर्ष निकलता है कि इन तीनो सम्यक् साधनो का सगम और तीनो का एकत्त्व जब जीवन मे अभिव्यक्त होता है, तभी वीतराग का मूल मार्ग प्रकाशित बनता है।

श्रमण सस्कृति की पवित्र गरिमा इसी मूल मार्ग के अनुपालन के साथ अक्षुण्ण बनी हुई है। यह श्रोत भव्य जनों को आनन्द से आप्लावित करने वाला, उन के जीवन को पवित्र बनाने वाला तथा आमूलचूल परिवर्तन के दिव्य मार्ग का सकेत देने वाला है। इसी श्रोत से सबका जीवन प्रभावित बने और इस श्रोत के प्रवाह को वेग दिया जाय तो सब ओर चरित्र सम्पन्नता को प्रदीप्त बनाना कठिन नही होगा।

आज का दिवस उस दिव्य एव चरित्र सम्पन्न आत्मा की स्मृति का प्रतीक है, जहॉ से क्रान्तिकारी श्रमण सस्कृति की जाज्वल्यमान धारा प्रस्फुटित हुई। जन-जन के अन्त करण को पवित्र बनाने वाली पावन गगा के प्रवाह के तुल्य स्वर्गीय आचार्य देव श्री गणेशीलाल जी म सा थे और पूर्व के आचार्यो और उनका सिलसिला प्रभु महावीर तक जुडता है। उन सबकी अमोघ धारा की सुरक्षा के लिये एक विशिष्ट चरण चिन्ह का आज के दिन इस भूमडल पर प्रारभ हुआ था। एक विशेष परिस्थिति मे निर्ग्रंथ श्रमण सस्कृति की चद्दर ओढ़ाई गई थी। दूसरे शब्दो में कहू तो द्रौपदी के चीर के तुल्य जो बीच में छिन्नभिन्नता की स्थिति उपस्थित हो रही थी, उसको सुव्यवस्थित करने के लिये वृहद् सादडी सम्मेलन में समस्त सत वर्ग के प्रतिनिधियों ने – श्रमण वर्ग के साधकों ने एक उद्देश्य निर्मित किया कि एक ही आचार्य के नेतृत्व मे इस चतुर्विध सघ की पावन गगा अबाध गति से प्रवाहित हो। शिक्षा, दीक्षा, प्रायश्चित, विहार आदि समग्र क्रियाएँ एक आचार्य के नेतृत्व मे आदेशित हो। ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की एक धारा मिलने से जैसे मोक्ष मार्ग का निर्माण होता है, उसी तरह से चतुर्विध सघ की चरित्र सम्पन्नता की एक ही धारा बहे।

इस उद्देश्य को सर्वानुमति से स्वीकृति मिली थी, लेकिन उसके कार्यान्वय में सर्वानुमति से सब महानुभावों के अन्त करण की समर्थता सक्षम नहीं हो पाई। दिव्य पुरुष स्व आचार्य देव के नेतृत्त्व मे यह सरचना हुई थी। चरित्र सम्पन्नता

के परमाकाक्षी उस दिव्य पुरुष ने अपने दृढ सकल्प को साकार रूप देने की दृष्टि से सबके लिये द्वार खुले रखते हुए और समग्र सत सती वर्ग का आह्वान करते हुए यह निर्देशन दिया कि सादडी समेलन में जिस उद्देश्य को साकार रूप नही दिया जा सका, उसको मैं अपने अन्तिम जीवन में साकार रूप दे रहा हूँ। उन्होने घोषणा की कि सबके लिये द्वार खुले रखे गये हैं और अपने सर्वमान्य नियमो का पालन करते हुए जिस दिन सभी अपने मार्ग पर आरूढ हो जायेगे, उस दिन मेरी आन्तरिक भावना परिपूर्ण बनेगी। मैं अभी वर्तमान मे जिसको अमली रूप देने के लिये कह रहा हूँ, वह पवित्र धारा भी उससे अलग नही रह पाएगी।

चरित्र सम्पन्नता के मार्ग को निष्कटक बनाने की दृष्टि से आचार्य देव का यह अनूठे साहस का कार्य था। वृद्धावस्था मे प्रत्येक दुर्बलता का अनुभव करता है, लेकिन उस पुण्य पुरुष का साहस तरूणों से भी अधिक तेज गति से चल रहा था। शारीरिक बाधाऐं तथा वायुमडल की बाधाऐं उन्हें विचलित नहीं कर पाई और उन्होने आज के ही दिन उस उद्देश्य को अमली रूप दिया। वह प्रसग था निर्ग्रंथ श्रमण सस्कृति की उत्क्रान्ति का, न कि व्यक्ति विशेष के गुणगान का। इसके पीछे एक ही लक्ष्य था कि जीवन की चरित्र सम्पन्नता अभिवृद्ध बने।

एक निष्ठा, एक विचाराधारा, एक प्रतिपादन और एक चरित्र की दिशाये

आचार्य का पद तीर्थंकरो की परम्परा का स्थायी पद होता है। इस पद पर साधक आते हैं और चले जाते हैं लेकिन यह पद ध्रुव नक्षत्र की तरह स्थिर रहता है। इस पद का आश्रय लेकर भव्यजन-सन्तजन इस शासन की शरण में समर्पित होते है तथा अपने जीवन की साधना का–सार्थकता का समुज्ज्वल प्रसग उपस्थित करते हैं। इसके अनुरूप दृढ सकल्प करने की आज की तिथि आज के मानव समुदाय को उदबोधन दे रही है कि यदि रत्नत्रय की त्रिपुटि को एकाकार करना चाहते हैं तो चरित्र सम्पन्नता के महद् कार्य को सफल बनाने मे अपने चरित्र निर्माण का समारभ कीजिए।

वर्तमान परिस्थितियो की मीमासा करे तो प्रतीत होगा कि राग द्वेष की जटिल ग्रथियाँ मानव मन को झकझोर रही हैं तथा जन-जन के मन मे दीवारे खडी कर रही हैं। विषमता की ऐसी खाई बनती जा रही है जिससे जन कल्याण का मार्ग अवरूद्ध हो रहा है। जन जीवन की आन्तरिकता को सतप्त बनाते हुए ममत्त्व की रस्सियो के मजबूत बन्धन और अधिक कसते जा रहे हैं, जिससे विवेक कुठित बन रहा है। इन विषम परिस्थितियो मे चरित्रशीलता को कार्यरत बनाने की अनिवार्य आवश्यकता है। इस द्वितीया तिथि के प्रसग को इस सन्देश के रूप मे

लें कि राग द्वेष की जडो को तथा ममत्त्व के बन्धनो को दूर करने के लिये कटिबद्ध बन जावे– ममत्त्व के धरातल को समत्त्व के धरातल के रूप मे परिणित कर दें।

समत्त्व की साधना के साथ प्रत्येक मानव का मन मयूर अपनी आध्यात्मिक कला का प्रदर्शन करता हुआ एक निष्ठा के साथ, एक आवाज, एक विचारधारा, एक श्रद्धा, एक सरीखा प्रतिपादन तथा एक सरीखा यथा शक्ति यथास्थान अपने व्यवहार बनावे। प्रत्येक यह दृढ सकल्प अपने मन में बनावे कि चारित्रिक दृष्टि से मन, वचन एव काया का एकीकृत भाव प्रकट होना चाहिये। यह चिन्तन किया जाय कि अनन्त तीर्थकरो द्वारा प्ररूपित एव व्यवहृत निर्ग्रथ श्रमण सस्कृति के सभी सहायक बनें यह भी सोचें कि चरित्र सम्पन्नता के इस क्षेत्र में यथाशक्ति आगे बढेगे लेकिन पीछे हटने या हटाने में किसी के सहयोगी नही बनेगे।

चरित्र सम्पन्नता की पाठशाला के विद्यार्थी के रूप मे

श्रमण सस्कृति की जो आध्यात्मिक वाटिका है, इस की शोभा बढाने वाली विभिन्न द्रुम लताएँ, रग बिरगे फूल और कलियॉ खिल रही हैं, जन मानस उनकी सुगन्ध को भी ग्रहण करे। इस वाटिका को ही दूसरे रूपक में चरित्र सम्पन्नता की पाठशाला कह दें और सारे चतुर्विध सघ को इस पाठशाला के विद्यार्थी मान सकते हैं जो अलग-अलग स्तर पर अलग-अलग कक्षाओं मे चारित्र्य-पालन का अभ्यास कर रहे हैं। पालन का अभ्यास जब सुचारू बन जायगा तो सम्पन्नता उसकी उपलब्धि कहलायगी।

आज इस द्वितीया के प्रसग से जो कुछ भी बाते, उपदेश, कविताएँ आदि विभिन्न रूप में उपस्थित हुई, वे स्व आचार्य देव की शान्त क्रान्ति को सुदृढ बनावे और सबमें एकत्त्व की भावना पैदा करे– यही वाछनीय है। मेरे लिये जो कुछ भी गुणगान या प्रशसा के शब्द कहे गये हैं, वे सब प्रभु के शासन को समर्पित हैं। मैं तो स्वय इस आध्यात्मिक पाठशाला के एक विद्यार्थी के नाते कुछ सशोधन एव शिक्षाओं की अभिलाषा रखता हूँ। जैसे अभी कुचेरा और राणावास के छात्र अपनी जिज्ञासा अभिव्यक्त कर गये, वैसे ही मेरी भी छात्रवत् भावना है कि मेरी अपने जीवन की नैतिकता तथा अन्तरात्मा की पवित्र भावना दिन पर दिन बढती रहे और मैं आध्यात्मिक परीक्षाओं में आगे से आगे सफल होता रहू।

यह सबके लिये भी वाछनीय है कि सभी अपने अन्त करण में अपने आपको चरित्र सम्पन्नता की इस आध्यात्मिक पाठशाला के विद्यार्थी के रूप मे देखे और विद्यार्थी भावना की अभिव्यक्ति करे। विद्यार्थी मानकर विद्याओ का अभ्यास किया

जायगा तो जीवन पथ प्रशस्त बनता जायगा तथा चरित्रशीलता का विकास होता जायगा। सही ज्ञान एव सही विश्वास के साथ श्रेष्ठ आचरण की आवश्यकता न सिर्फ साधना के पथ पर है, बल्कि वह ससार के कर्म क्षेत्र मे भी उतनी ही है क्योकि सासारिक जीवन मे जितनी अधिक नैतिकता लाई जा सकेगी उतना ही अधिक अनुकूल वातावरण आध्यात्मिक क्षेत्र में भी बनेगा। आध्यात्मिक क्षेत्र के साधक भी आखिर सासारिक क्षेत्र से ही तो आते हैं। इसलिये विद्यार्थी के रूप मे चरित्र सम्पन्नता का अभ्यास श्रावक अवस्था मे भी जल्दी ही प्रारम्भ कर दिया जाना चाहिये।

समाज आज जिन विषम परिस्थितियों में से गुजर रहा है, चरित्रहीनता की दृष्टि से भ्रष्टाचार के वातावरण में राष्ट्र की जो कुछ दयनीय दशा बन रही है, वह सबके सामने है। ऊपर से जो कालाबाजारी, मुनाफाखोरी, अव्यवस्था तथा अनुशासनहीनता आदि की बुराइयॉ बुरी तरह से फैलती हुई दिखाई दे रही है, उनके मूल मे चरित्रहीनता ही मुख्य रूप से जिम्मेदार है। चारो ओर राष्ट्रीय चरित्र का अभाव दिखाई देता है और उसका कारण है कि व्यक्ति स्वय चरित्रशील नहीं बन रहा है।

राष्ट्रीय चरित्र का अभाव एक घातक स्थिति

वास्तव मे किसी भी राष्ट्र में – उसके नागरिको मे यदि राष्ट्रीय चरित्र का अभाव हो तो वह उस राष्ट्र के लिये एक प्रकार से घातक स्थिति के समान होता है। राष्ट्रीय चरित्र का अभाव साफ तौर से व्यक्ति की चरित्रहीनता की घोषणा करता है। व्यक्ति की चरित्रहीनता के कारण सामूहिक चरित्र का विकास नहीं हो पाता है और उसके बिना राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण समव नहीं।

चरित्र की सामान्य व्याख्या करे तो यही होगी कि आपका जीवन जिस रूप मे दिखाई देता है या कर्त्तव्य निष्ठा की दृष्टि से जिस रूप मे दिखाई देना चाहिये वह वास्तव मे अन्दर से भी वैसा ही हो – दोहरापन नहीं होना चाहिये। फिर आचरण की सीमाओ में सभी प्रकार की मर्यादाओं का पालन किया जाय जो सामाजिक एव राष्ट्रीय अनुशासन के लिये आवश्यक होती है। आप अपनी दिनचर्या मे, धन कमाने में, परस्पर व्यवहार करने मे उन सामाजिक व राष्ट्रीय मर्यादाओ का पालन करते हैं तो सामन्य रूप से वह राष्ट्रीय चरित्र का रूपक हो जायगा।

राष्ट्रीय चरित्र का विकास तभी हो सकेगा, जब व्यक्ति पहले अपने जीवन को चरित्र सम्पन्न बनाने का प्रयास करेगा। व्यक्ति के जीवन में जो चरित्रहीनता

है उस का यह कारण है कि जीवन मे वास्तविक उद्देश्य का निर्धारण नहीं हो पाता है और निर्धारण होता भी है तो उससे उसकी गति विचलित हो जाती है। उद्देश्यहीनता चरित्र-सम्पन्नता को उत्पन्न नही होने देती है। उद्देश्यहीन व्यक्ति का चरित्र उसके परिवार के लिये सहायक नहीं बनता, अपने सामाजिक दायित्त्व को ग्रहण नही करता तो राष्ट्रीय कर्त्तव्यो के पालन से भी उपेक्षित हो जाता है।

व्यक्ति से समाज और समाज से राष्ट्र की रचना बनती है। व्यक्तिगत चरित्र यदि समृद्ध बन जाता है, समता के धरातल पर ममता के बन्धनों से रहित हो जाता है तो उस चरित्र का सुप्रभाव अन्य व्यक्ति पर पड़े बिना नहीं रहता है। इस प्रकार व्यक्ति-व्यक्ति की चरित्रशीलता पारिवारिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय चरित्रसम्पन्नता की ओर गतिशील बनती है। राष्ट्र की वर्तमान घातक स्थिति से त्राण पाने का एक मात्र उपाय यही है कि व्यक्तिगत एव सामूहिक दोनो दिशाओ से चरित्र सम्पन्नता का ऐसा प्रवाह प्रवाहित किया जाय कि एक सुस्पष्ट एव आदर्श राष्ट्रीय चरित्र का उद्‌भव हो सके।

राष्ट्रीय चरित्र के विकास से विषमताओ की समाप्ति

आज सामाजिक जीवन में मानव-मानव के बीच में विषमताओ का कुटिल वातावरण दिखाई देता है, लेकिन क्या आपने सोचा है कि यह क्यो है ? इन विभेदो को लेकर आलोचनाएँ-प्रत्यालोचनाएँ होती रहती हैं, लेकिन मूल तथ्य की ओर ध्यान केन्द्रित करने की कोशिश नहीं की जाती है। सच बात तो यह है कि मूल केन्द्र यदि सुधर जाता है तो टहनियों और पत्तियो के हरी भरी होने में कोई सशय नहीं रह जायगा। अकेले राष्ट्रीय चरित्र के विकास से विषमताओ की समाप्ति की जा सकती है। राष्ट्रीय चरित्र राष्ट्रीय समस्याओं का मूल केन्द्र होता है।

व्यक्ति का चरित्र डूब रहा है तो आज राष्ट्र का चरित्र भी डूब रहा है। कहॉ है आज राष्ट्रीय चरित्र एव कहॉ है भावात्मक एकता ? दोनो के अभाव में नागरिकों का व्यवहार न तो बाह्य रूप से परस्पर सहयोगात्मक है और न आन्तरिक दृष्टि से सहानुभूतिपूर्ण है। आप जितनी सख्या मे भाई और बहने यहॉ उपस्थित हैं, आप अपने जीवन के अन्दर व्यक्तिगत चरित्र के साथ-साथ राष्ट्रीय चरित्र की स्थिति को भी सम्पन्न बनाने का प्रयास करें और कुछ प्रण करे कि हमारा व्यक्तिगत जीवन इतना भव्य उज्ज्वल, ईमानदार, वफादार एव मन वचन काया के शुभ योग वाला बने कि अपने जीवन में ज्ञान, दर्शन, चरित्र की त्रिपुटि की साधना सफल हो तो वह प्रभा समाज व राष्ट्र के जीवन मे नैतिकता को समुज्ज्वल बनावे। यदि

व्यक्ति-व्यक्ति अपनी चरित्र सम्पन्नता का सम्बल लेता है और जिस-जिस क्षेत्र में जो जो जिस-जिस प्रकार का कार्य करता है उसमें यदि ईमानदारी से चलने का यत्न करता है तो वह राष्ट्रीय चरित्र के विकास में भी अपना यथायोग्य योगदान कर सकता है।

जापान के एक गरीब देशभक्त की बात मैं समय-समय पर जनता के समक्ष रखता हूँ। एक भारतीय सज्जन जापान के जहाज में बैठकर यात्रा कर रहे थे। उनको कुछ फलो की आवश्यकता हुई। इधर उधर खोज करने पर जब उन्हें फल उपलब्ध नहीं हुए तो उनका धैर्य टूट गया। वे असयमित वचनो से जापान देश की निन्दा करने लगे। यह निन्दा एक जापानी देशभक्त सहन नहीं कर सका और वह अपने लिये लाये फल ले आया और उनको देते हुए बोला – आप ये फल लेले, लेकिन मेरे देश की निन्दा न करे। जब वे भारतीय सज्जन उसे फलों की कीमत देने लगे तब भी उसने यही कहा कि मुझे द्रव्य नही चाहिये, इनकी कीमत यही मानूगा कि आप मेरे देश की गरिमा घटाने वाले वचन न कहे। क्या जापान के उस देशभक्त की तरह भारतीय मन मस्तिष्क मे राष्ट्रीय गौरव की भावना है ? अधिकाश में ऐसा शायद ही हो बल्कि कई भारतीय तो अपने देश की खुद खिल्ली उडाने लग जायेंगे।

राष्ट्रीय चरित्रहीनता दूर होनी चाहिये और उसके लिये व्यक्ति की चरित्र सम्पन्नता प्रोत्साहित की जानी चाहिये। राष्ट्रीय चरित्र का इस तरह से विकास किया जाय तो चारो और व्याप्त विषमताओं की भी समाप्ति होने लगेगी।

जीवन की चरित्र सम्पन्नता
एक-एक कदम आगे बढे

किसको क्या कहा जाय – आज सर्वत्र अधाधुधी आपाधापी लगी हुई है। व्यक्ति का चरित्र ममता, स्वार्थ और कर्त्तव्यहीनता से भ्रष्ट है तो उसे न समाज मे नैतिकता का ध्यान है तो न राष्ट्रीय धरातल पर अनुशासन का। यही कारण है कि मानवीय सस्कृति-निर्ग्रथ श्रमण सस्कृति को भी छिन्नभिन्न करने के दुष्प्रयास किये जा रहे हैं। अत आप के मन मे आज के दिवस का जो भी सम्मान है, उसको साथ लेकर जीवन की चरित्र सम्पन्नता के क्षेत्र में भले एक एक कदम ही आगे बढे, लेकिन आगे बढना अवश्य आरम्भ कर दे।

. आपके जीवन मे चरित्र सम्पन्नता की दिशा में आगे बढने की गतिशीलता आवेगी और जब आप स्वय सुधरेंगे तो फिर समाज को सुधारने की भी आपकी चेष्टा बनेगी। समाज में आज कितनी कुरीतियॉ व्याप्त हैं और वे किस प्रकार से आपके जीवन को जर्जर करती जा रही हे लेकिन आपसे छूटती नहीं है। दहेज,

छुआछूत आदि अनेकानेक कुरूढियो से समाज ग्रस्त बना हुआ है। इस ग्रस्तता को जब तक नहीं मिटा पाते हैं, तब तक सामाजिक वातावरण मे आत्मीय गुणो का प्रसार सभव नहीं है। ये धर्मपाल बधु भी अछूत कहलाते हैं और इनकी वहाँ के सामाजिक क्षेत्र मे बडी दुर्दशा थी। मैं रतलाम से नागदा क्षेत्रों में विहार करने लगा तो मैंने इनकी दुर्दशा प्रत्यक्ष देखी। ये लोग अत्यन्त सन्तप्त अवस्था में चल रहे थे। उस समय जब इन लोगों को मानवीय भावना का स्पर्श मिला और बाद मे जब सहयोग का हाथ – तो इनके जीवन में एक अद्भुत परिवर्तन होने लगा। ये लोग अपने दुष्चरित्र से हटकर चरित्रशीलता पर आरूढ होने लगे। मैंने कुछ सस्कार की बाते इनको दी तो वे जैन धर्म के पवित्र नियमो को अगीकार करके चलने लगे। यह अगीकरण भी सामूहिक रूप मे करने लगे।

जिस 'अहिसा परमो धर्म ' के सहारे भारतीय जनता ने अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त की – महात्मा गाधी ने राष्ट्रीय धरातल पर अहिसा के प्रयोग को साकार रूप दिया, वह भगवान् महावीर की अहिसा भारत के महान् सपूतो का पहले भी आचरण केन्द्र रही है। उस युग के कई अग्रज श्रेष्ठियों और राजाओ ने उसे अगीकार की थी तथा जैन धर्म की महिमा बढाई थी। याद रखे, जैन धर्म किसी वर्ग, जाति या व्यक्ति विशेष का धर्म नहीं है, वह तो सदा ही सर्वसाधारण का धर्म रहा है तथा इस धर्म के सिद्धान्तो मे इसी कारण भेद दृष्टि को कहीं भी कोई स्थान नहीं मिला है। कोई भी व्यक्ति राग द्वेष को जीतकर जब अहिसा के मार्ग पर चलता है तो समझिये कि वह जैन है। जो जन धर्म है, वही जैन धर्म है। जिन्होने आत्मिक सद्गुणों का विकास किया है और जो वीतराग देवों के बताए हुए सिद्धान्तो के अनुसार चलना चाहते हैं, वे जैन धर्म को मानने वाले कहे जा सकते हैं। आज यही रूपक स्पष्ट हुआ है कि लाखों धर्मपाल भाई अहिसा के मार्ग पर चलने लगे हैं तथा अपने जीवन मे चरित्रशीलता को प्रमुख स्थान दे रहे हैं।

जब मैं धर्मपालो के क्षेत्रों में घूमा और वे हजारों की सख्या मे अहिसा धर्म की ओर आकर्षित होने लगे तो साधुमार्गी जैन सघ के नेताओं का ध्यान भी उधर गया और आज वे भी उनको सस्कार देने की दृष्टि से चल रहे हैं। अब सब लोगो का ध्यान उस ओर खिच रहा है। डॉ बोरदिया जी जैसे विख्यात डॉक्टर उनके बीच मे कार्य कर रहे हैं तो मानव मुनि जी जैसे सर्वोदयी भी उनकी सेवा मे जुट गये हैं। मेरे इन्दौर चातुर्मास के समय में मध्यप्रदेश के राज्यपाल श्री पाटस्कर धर्मपाल प्रवृत्ति से बहुत प्रसन्न हुए और मेरे पास दर्शनार्थ आये तो मैंने यही कहा कि इनको ऊपर उठाने मे एक हाथ राज्य का भी लग जाय तो इन्हें अपने जीवन मे चरित्र सम्पन्न परिवर्तन लाने में बडी सुविधा हो जायगी।

सब ओर चरित्र की उन्नति .
एक वाछनीय उद्देश्य

अब बुद्धिवादी व्यक्तियो का युग आ गया है। कटिबद्ध होकर ईमानदारी से ज्ञान-दर्शन की पवित्र भूमिका के साथ चरित्र को उन्नत बनाने का कार्य सभी ओर सम्हालना है। यह मानवीय कर्त्तव्य है कि अपने चरित्र को उन्नत बनावे तो जहॉ-जहॉ पीडित और पतित मानवता के दर्शन हो वहॉ वहॉ चरित्र की उन्नति के पुनीत प्रयास करे और यह मानवीय उद्देश्य बन जाना चाहिये जो सर्वथा वाछनीय है।

मैं देश के नेताओ से, कार्यकत्ताओ से तथा साधुमार्गी सघ के अगुआओं से कहूगा कि अब धीरे-धीरे मन्द गति से चलने का युग नहीं है। समता के धरातल पर पीडित मानवता को सहायता देने की कोशिश नहीं की – उसकी चारित्रिक उन्नति मे सम्बल नहीं पहुचाया तो आगे का समय क्या कहेगा ? आपके सद्गुण—आपकी चरित्र सेवा और आपका मानव प्रेम द्वितीया के चाद की तरह निरन्तर अभिवृद्ध होता जाय – यही मगल कामना करता हूँ।

नोखा
२५.९ ७६

11

धर्म और विज्ञान का समन्वय

पथडो निहालू रे
बीजा जिन तणो

परमात्मा के श्रेष्ठतम मार्ग का अनुसधान भव्य जनों के लिये नितान्त आवश्यक है। इस प्रसग से कवि आनन्दघन जी की' प्रार्थना जन मन को दिशा निर्देश कर रही है। किन्तु वह मार्ग इन चर्म चक्षुओं से नहीं दिखाई देगा। ये चक्षु तो स्थूल वस्तुएँ ही देख सकते हैं, यहाँ तक कि छोटे जड अणु-परमाणु को देखने के लिये भी अनुवीक्षण यत्र का प्रयोग करना पडता है। वहाँ चैतन्य जैसे सूक्ष्म वस्तु स्वरूप को देखने तथा आत्म विकास के मार्ग का अनुसधान करने के लिये अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता होती है। अन्तर्दृष्टि के धारक ज्ञान चक्षु होते हैं – उन्हे आप भीतरी नयन कह लीजिये। जब भीतरी नयन खुलते हैं, तभी सूक्ष्म स्वरूप का दिग्दर्शन हो सकता है।

विज्ञान और धर्म भेद और समन्वय

प्रभु महावीर की परम पवित्र देशना प्रथम देशना के रूप में उद्घोषित हुई थी –

" अजत्थ जाणाई

इस वाक्य मे परम विज्ञान समाया हुआ है। विज्ञान केवल भौतिक विकास के तत्त्वो की सज्ञा पा रहा है तो आध्यात्मिक ज्ञान अन्तर्विद्या से सम्बन्धित किया जाता है। लेकिन इन दोनों शब्दो में दोनों की समन्वय शक्ति का एक दूसरे की पूर्ति से सिचन किया गया है। जहाँ बाह्य मन मे जिज्ञासाएँ पैदा होती हैं और

चिन्तन के क्षणों में सोचने की गहराई मे पहुँचते हैं तो लगता है कि वहाँ से विज्ञान और धर्म के समन्वय की आवाज उठती है।

रात्रि की ज्ञान चर्चा मे एक जिज्ञासु का प्रश्न था कि विज्ञान और धर्म एक दूसरे के पूरक कैसे बन सकते हैं ? सन्तों ने उसका उत्तर भी दिया। कितना कुछ समझ में आया, वह तो प्रश्न कर्त्ता ही अपने आपमे समझने की स्थिति में रहा है, लेकिन वस्तुस्थिति वीतराग देव के इस दर्शन में भव्य तरीके से प्रकट हो रही है। इन्सान का दृष्टिकोण बाहरी वस्तुओ से बधा हुआ होता है। वह दृश्य जगत् अपनी पूर्ण स्थिति का समावेश करना चाहता है। दृश्य जगत् से परे जगत् की – अदृश्य सृष्टि की कल्पना भी प्राय नहीं बनती है। उसकी तरफ ध्यान मुडना कठिन होता है। लेकिन दृश्य और अदृश्य – दीखने वाले और नहीं दीखने वाले इन दोनो प्रकार के तत्त्वों का सम्मिश्रण ही यह सृष्टि है। सिर्फ बाहर ही बाहर देखे और अन्दर मे नही जावें तो जीवन की अवस्था अधूरी रहेगी। जीवन के अन्दर ही अन्दर देखे और बाहर को सर्वथा ओझल कर दे तो वह अवस्था भी परिपूर्ण नहीं बनेगी। सर्वथा भीतर का एकान्त परिपूर्ण नहीं होता है और सर्वथा बाहर की हलचल भी जीवन को अपग रख देती है। इन्सान यदि अपनी समग्र जिन्दगी को सम्पूर्ण रूप में देखने की जिज्ञासा रखता है तो उसे भीतर और बाहर का समन्वय समुचित रूप से साध लेना चाहिये। वह बाहर को परिपूर्ण रीति से तभी देख पाएगा जबकि भीतर को परिपूर्ण रूप से देख सकेगा। भीतर का समग्र स्वरूप सही माने में तभी सामने आ सकेगा, जब वह बाहरी दृश्यो को भी उनके सही परिप्रेक्ष्य मे देख लेगा।

यो देखे तो विज्ञान और धर्म में भेद पूर्व और पश्चिम का है। विज्ञान का मुख्य आधार भौतिकता है तो धर्म ने अपना मूलाधार आध्यात्मिकता को माना है। भौतिकता शब्द भूत से बना है और भूत का अर्थ होता है जड पुद्गल। जडाधारित वह भौतिकता। और अधि आत्मिक हो याने कि आत्मा की तरफ जाना है, वह है आध्यात्मिकता। तो एक जड की दिशा है और दूसरी चेतन की दिशा है। वस्तु स्वरूप की दृष्टि से तो जड और चेतन की दिशा है। वस्तु स्वरूप की दृष्टि से तो जड और चेतन एकदम विपरीत तत्त्व हैं ही। अत भेद तो स्पष्ट है, लेकिन क्या समन्वय भी उतना स्पष्ट है ? एक दृष्टि से यह कहे कि समन्वय भी उतना ही स्पष्ट है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

भौतिकता एव आध्यात्मिकता . सम्मिलन के स्थल

दृश्य और अदृश्य तत्त्वों के सम्मिलन से ही इस सृष्टि की रचना हुई है –

यह निर्विवाद तथ्य है। वीतराग वाणी भी इसको पुष्ट करती है कि नो तत्त्वों मे से मूल दो तत्त्व हैं – जीव और अजीव। जब जीव तत्त्व अजीव तत्त्व से मिलता है तो जीवन की सृष्टि होती है। जीव है सो आत्मा है और अजीव है वह शरीर है। शरीर भी कोई इन बाहरी आखों से दिखाई देते हैं तो कोई इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे इन आखों से नहीं दिखाई देते। सूक्ष्म जीवाणुओं के शरीर की ऐसी ही स्थिति होती है। स्वय कार्मण शरीर अति सूक्ष्म होता है। सूक्ष्म होकर भी वह जड ही होता है।

वस्तु स्वरूप की दृष्टि से विचार करे तो जीव और अजीव दोनो एकदम विपरीत तत्त्व हैं। लेकिन दोनो का जो भी रूप इस ससार के पटल पर सक्रिय रूप मे दिखाई देता है, वह इन दोनो का समन्वित रूप ही तो होता है। आत्म तत्त्व निराकार है, उसका आकार शरीर बनाता है। मानव शरीर जो दिखाई दे रहा है, वह स्वय जीव और अजीव तत्त्वों की समन्वित श्रेष्ठ रचना है। दूसरे शब्दो मे यह कह सकते हैं कि इन दोनो का जो समन्वित रूप है, वही सृष्टि का मूल है। दो तत्त्व मुख्य है और बाकी सात तत्त्व इन दोनों तत्त्वों के समन्वित रूप की प्रक्रियाओं से सम्बन्ध रखते हैं। जीव और अजीव तत्त्वों का सम्मिलन है, वह बधन अवश्य है लेकिन यही बधन है उससे ससार का अस्तित्त्व है क्योंकि यह सम्मिलन टूट जायगा, बधन मिट जायगा तो जीव ससार से भी हट जायगा – उसका मोक्ष हो जायगा।

तो जब तक मोक्ष नहीं होता है, जीव और अजीव का समन्वित रूप बना रहेगा – एक समय के लिये भी वह समन्वय टूटता नहीं है। एक शरीर को छोडकर जब आत्मा दूसरे शरीर को ग्रहण करती है, तब बीच के समय में भी कार्मण शरीर के सलग्न होने से यह समन्वय अटूट रहता है। जब भूत और आत्मा में इतना अटूट समन्वय है तो भौतिकता एव आध्यात्मिकता में भला समन्वय नहीं रखा जायगा तो ससार में रहते हुए एक भी काम कैसे बनेगा ? यहॉ तक कि शरीर को धर्म-साधना नहीं बनाया जाय तो क्या मोक्ष की साधना भी सभव हो सकेगी ?

भौतिकता एव आध्यात्मिकता के बीच इस दृष्टि से सम्मिलन के विशिष्ट स्थल नहीं हैं, बल्कि दोनों का रूप सम्मिलित एव समन्वित ही दिखाई देता है। परन्तु आवश्यकता यह रहती है कि दोनों वृत्तियों के स्वरूप को पहिचाने तथा उस स्वरूप के अनुसार उनके प्रति भावना के धरातल पर ज्ञेय, हेय एव उपादेय का दृष्टिकोण बनावे। तथ्यात्मक रूप से वस्तु स्वरूप के भेद के बाद भी दोनो का सम्मिलन है – समन्वय है। सोचने का विषय यह है कि यह समन्वय किस रूप में समझा और ढाला जाय कि वह आत्मा के चरम लक्ष्य के अनुकूल बन सके ?

धर्म, आत्मा एव आध्यात्मिकता तथा विज्ञान, भूत एव भौतिकता के त्रिकोण

स्वरूप का सूक्ष्म विश्लेषण करने के उद्देश्य से दो विपरीत त्रिकोण की कल्पना करें। एक त्रिकोण धर्म, आत्मा एव आध्यात्मिकता का तो दूसरा त्रिकोण विज्ञान, भूत एव भौतिकता का समझ ले। आत्मा मूल तत्त्व है। यह जड तत्त्व से सलग्न बनकर ससार मे परिभ्रमण कर रही है। यह जड तत्त्व की सलग्नता उसका बधन है। बधन से सर्वथा छूटे तो आत्मा अपने मूल स्वरूप में पहुँच जायगी – उसे ही परमात्म स्वरूप माना गया है तथा ससारी आत्मा का यही चरम लक्ष्य निर्धारित किया गया है कि वह बधन मुक्त हो जाय और अपने मूल स्वरूप को प्राप्त करके 'परम' बन जाय।

ससारी आत्मा को अपने इस लक्ष्य तक पहुँचाने वाला जो साधन है, उसे धर्म कहते हैं। लेकिन वास्तव में धर्म की व्याख्या दी गई है कि जिस वस्तु का जो स्वभाव है (विभाव नहीं) वही उस का धर्म है। आत्मा का स्वभाव है अपने मूल स्वरूप को प्राप्त करना– उर्ध्वगामी बनना उसी तरह जैसे पानी के तल से छोडा गया एक लकडी का टुकडा अपने स्वभाव के अनुसार तुरन्त पानी की सतह पर आ जाता है। ऐसा तभी हो सकता है जब लकडी के टुकडे पर कोई बधन नही हो। अगर वह लोहे की डिबिया मे बद है तो वह तले से उठकर सतह पर नहीं आ सकेगा। बधन से स्वभाव विपरीत हो जाता है, उसे विभाव कहते हैं। तो आत्मा विभाव छोड कर अपने स्वभाव मे स्थित हो जाय, तब कहा जायगा कि वह धर्म मे स्थित हो गई है। यह स्थिति मोक्ष की होती है।

धर्म नाम से जो अर्थ सामान्यत ग्रहण किया जाता है, वह उस सम्यक् ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य की साधना का नाम है जिसे अपनाकर आत्मा अपने मूल स्वभाव को प्राप्त कर सकती है। इस मूल स्वभाव की ओर ले जाने वाली जो वृत्तियॉ हैं, उन्हे एकत्त्व भाव से आध्यात्मिकता का नाम दिया जा सकता है। अत ये तीनो पृथक-पृथक नहीं हैं। आत्मा मूल है, उसका (मूल) स्वभाव धर्म है तथा आध्यात्मिकता स्वभाव प्राप्ति का मार्ग है।

इसके विपरीत भूत है वह जड है। भूत पर आधारित ज्ञान का नाम विज्ञान है तो उस पर किये जाने वाले प्रयोगो की पद्धति का नाम भौतिकता है। जड तत्त्व जहॉ स्वतत्र है, वहॉ निष्चेष्ट है। उसकी क्रियाशीलता तो आत्म तत्त्व से सलग्न होने के बाद ही निर्मित होती है। लेकिन भूत, उसका विज्ञान, उसकी भौतिकता एव विज्ञान के प्रयोग तथा परिणाम क्या आत्म तत्त्व की सहायता के बिना सक्रियता ग्रहण कर सकते हैं ? अपनी स्थिति से जड सक्रिय रहता है, वह उसका स्वरूप अलग है।

अब इन दोनों त्रिकोणो के समन्वय पर जो सोचना है, वह सोचने वाला स्वय आत्म तत्त्व होता है, अत उसका सोचना उसके चरम लक्ष्य एव मूल स्वभाव के परिप्रेक्ष्य मे ही होना चाहिए।

समन्वय की पृष्ठभूमि एव समन्वय का स्वरूप

उपरोक्त विश्लेषण से धर्म और विज्ञान, आत्मा और जड तथा आध्यात्मिकता और भौतिकता के समन्वय की पृष्ठभूमि स्पष्ट हो जाती है। अत इस पृष्ठभूमि के अनुसार समन्वय का स्वरूप स्पष्टता से समझा जा सकता है।

सम्पूर्ण प्रक्रिया चक्र मे आत्मा को सदा केन्द्रस्थ मानकर चलें। आत्मा ही की ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति सजग बनती है तभी समग्र वस्तु-स्वरूप की समीक्षा की जा सकती है तो समन्वय के स्वरूप का भी निर्धारण हो सकता है। आत्मा को जब केन्द्रस्थ मानकर चलेगे तो आत्मा के मूल स्वभाव पर तथा उसके चरम लक्ष्य पर हर समय अवश्य दृष्टि रहनी चाहिये, कारण यह समन्वय आत्मा को करना है तथा अपने स्वभाव को प्राप्त करने के लिये करना है।

ज्ञानी जनो ने इस दृष्टि से आत्मा को दो रूपो मे देखने का निर्देश दिया है। एक आत्मा ससारी होती है और दूसरी होती है सिद्ध आत्मा। बधन में है वह ससारी और मुक्त होते ही सिद्ध। समन्वय के लिये हमारा प्रयोजन ससारी आत्मा से है, बल्कि ससारी आत्मा को ही उसकी जागृति और उसकी मूर्छा के दोनों रूपों मे देखकर समन्वय के स्वरूप को समझने की चेष्टा करनी चाहिये।

मूर्छाग्रस्त ससारी आत्मा की अवस्था करीब जड से मिलती जुलती सी हो जाती है। आत्मा जड नहीं होती, उसकी सज्ञा जड जैसी हो जाती है। मरे हुए और नींद मे सोये हुए की अवस्था से अन्तर समझा जा सकता है। नीद से उठकर जैसे आदमी सचेष्ट हो जाता है, अपना भला बुरा समझता है, अपने को बचाता है और अपना काम पूरा करता है, उसी प्रकार जब आत्मा अपनेपन की सज्ञा से जागृत बन जाती है तो वह अपने स्वभाव को भी अधिकाधिक रूप में प्राप्त करने की एव अपने चरम लक्ष्य तक पहुँचने की भी अभिलाषिणी बन जाती है।

ऐसी जागृत आत्मा ही समन्वय के सही स्वरूप का निर्धारण कर सकती है और वह साफ है। आत्मा निजत्त्व को समझ लेने पर अपने पास उपलब्ध सभी साधनो का प्रयोग अपनी उन्नति के लिये ही करना चाहेगी। तब जो भौतिक साधन है उनका प्रयोग भी आध्यात्मिक रीति से होगा। इसलिये तो कहा गया है कि "शरीरमाद्य खुल धर्मसाधनम्" और जब स्वय शरीर धर्म का साधन है तो वही जागृत भावना के आधार पर चाहे जड तत्त्व हो – भौतिकता हो और विज्ञान हो,

उसका प्रयोग आत्माभिमुख हो जायगा। सच पूछे तो उस समय ससार और धर्म के दो पृथक-पृथक क्षेत्रो की कल्पना भी सार्थक नही लगती है। यह वाछनीय है कि ससार मे भी आत्माभिमुखी वृत्ति ढले जो सभी मानवो और प्राणियों के प्रति सहानुभूति एव सहयोग की प्रवृत्ति के विकास का कारण बनेगी तो धर्म के क्षेत्र मे यही वृत्ति साधना की उच्चतम श्रेणी तक पहुँचायेगी। हकीकत में यदि आत्मभिमुखी वृत्ति है तो ससार का क्षेत्र भी धर्म का ही क्षेत्र हो जायगा – कोई द्वैध नही रहेगा।

आत्माभिमुखी वृत्ति का विकास ही प्रमुख समस्या है ।

धर्म और विज्ञान के बीच समन्वय की समस्या उसी अवस्था मे समस्या है, जबकि आत्मा सज्ञाहीन सी रहती है। इसलिये प्रमुख समस्या है आत्माभिमुखी वृत्ति के विकास की और जब तक ऐसा समीचीन विकास नहीं हो जाता है, तब तक धर्म एव विज्ञान के स्वस्थ समन्वय से प्रमुख समस्या के समाधान में सहायता प्राप्त की जा सकती है।

सही समन्वय तब नही होता है और तब सन्तुलन बिगडता है, जब आत्मा की अज्ञानावस्था मे जड को केन्द्रस्थ मान लिया जाता है। आन्तरिकता मे गहरे उतरना कठिन होता है, लेकिन बाहर के चमत्कारो से सामान्यजन जल्दी प्रभावित हो जाता है। विज्ञान के चमत्कार सामने दिखाई देते हैं, भौतिकता की सुख सुविधाएँ स्पष्ट अनुभव में आती है और जो कुछ चमडे की आखो से दिखाई देता है, वह जड तत्त्व की करामात ही तो दिखाई देती है। इन परिस्थितियो से आत्मा की मूर्छा अधिक बढ रही है। आज का मानव अपने आपको सिर्फ भौतिक पिड तक ही सीमित रख रहा है। वह विज्ञान के अनुसधानो को भी इसी सीमा तक सीमित रखकर शरीर जनित आवश्यकताओ की पूर्ति में ही अपने समग्र जीवन का बल लगा रहा है। बाहर ही बाहर मानव का मन भटकता है और उस भटकाव मे वह आत्माभिमुखी बनने का सामान्य प्रयास भी नही करता है। इसके विपरीत वह चावकि दर्शन जैसी पूर्ण बाह्य वृत्ति बना रहा है कि जब तक जीओ, सुख से जीओ और ऋण करके भी घी पीओ।

यह आत्मा की चेतनावस्था के सन्तुलन का बिगाड है। कोरी भौतिक लिप्सा इसीलिये तो मनुष्य को राक्षस बना देती है। इसे वस्तुत समन्वय का अभाव कहा जायगा। भौतिकता तो आध्यात्मिकता की पूरक बनती है, विज्ञान की स्वस्थ सहायता से धर्म की उन्नति की जा सकती है, लेकिन शर्त यह है कि आत्म जागृत हो – निजत्व के आधार पर खडी रहने की क्षमता उसमे पैदा हो जाय। इसके लिये आत्माभिमुख वृत्ति का विकास किया जाना चाहिये। यह विचार क्रान्ति

का बिन्दु है, जिसको यदि चारो ओर के स्वस्थ वातावरण का बल मिल जाय तो ऐसा विकास दुस्साध्य नहीं रहेगा।

विज्ञान साधन है तो धर्म साध्य है।

जैसे शरीर धर्म का साधन बनाया जाना चाहिये तो उसी तरह विज्ञान को भी धर्म का साधन बनाया जाना चाहिये। वह कैसे ? अणु शक्ति से तो एक तो बम्ब बनाया जाता है जो महाविनाश का कारण होता है लेकिन इसी अणुशक्ति के शान्तिपूर्ण प्रयोग से लाखों गरीबों के जीवन यापन का आश्रय खडा किया जा सकता है। भौतिकत्ता की सम्पन्नता भी कई बार त्याग को अधिक प्रेरणा दे देती है जबकि भौतिक दरिद्रता मनुष्य के मानस को ऊपर उठने में रोक करती है। सही प्रयोग हो तो विज्ञान का साधन धर्म रूपी साध्य को प्राप्त कराने मे सशक्त सहायक हो सकता है।

विज्ञान के बाह्य चमत्कार देखकर मनुष्य चकित रह जाता है लेकिन आन्तरिक शक्ति का विकास होता है उससे भी बडे-बडे चमत्कार सामने आ सकते हैं। स्कूल शरीर के अलावा सूक्ष्म शरीर भी होता है जिसकी दृष्टि और गति विज्ञान के किसी भी आविष्कार से बहुत अधिक होती है। एक सत्य घटना मेरे पढने में आई थी कि १९२९ मे पेरिस के एक सम्भ्रान्त व्यक्ति के बगले से ५ फुट लम्बी और ३१ फुट चौडी एक कलाकृति अचानक गायब हो गई। उस कमरे का एक ही दरवाजा था और बाहर सख्त पहरा लगा था जिससे सभी आश्चर्य में पड गये कि ऐसी घटना कैसे गुजर गई ? उस सम्भ्रान्त व्यक्ति का एक पुत्र अल्जीरिया में प्रसिद्ध डॉक्टर था। वह अपने कमरे मे अपने एक परिचित अब्दुल के साथ बैठा हुआ बाते कर रहा था। बातों-बातों मे पेरिस का जिक्र हुआ तो डॉक्टर को मन ही मन अपने पिता की और पिता के साथ उस दस लाख के मूल्य की कलाकृति की याद हो आई। न जाने उसके मन की बात अब्दुल कैसे समझ गया। उसने डॉक्टर से दो मिनिट आखे बद करके पीछे की ओर देखने को कहा तो वहाँ सामने वही कलाकृति टगी हुई थी। डॉक्टर की आखो को विश्वास नहीं हुआ लेकिन ठोस चीज सामने थी। दूसरे दिन उसे उसके पिता का तार मिला कि वह कलाकृति गायब हो गई है। डॉक्टर ने अब्दुल को वापिस बुलाया और कलाकृति को तुरन्त यथास्थान पहुँचा देने का निवेदन किया। उसने वह भी कर दिखाया और उसे तुरन्त पिता का सन्देश मिल गया कि कलाकृति फिर से यथास्थान टगी हुई दिखाई दी है। यह क्या है ? यह सूक्ष्म शरीर का चमत्कार हो सकता है।

लेकिन ध्यान रखिये कि आत्मा की शक्ति तो अनन्त होती है। जो धर्म पथ

पर आगे बढता है याने कि निज स्वभाव की अनुभूति करने लगता है, उसके लिये ये चमत्कार कुछ भी महत्त्व नही रखते हैं। आत्मा से साक्षात्कार के बाद तो सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त हो जाता है और उसके प्रकाश में सम्पूर्ण विश्व 'हस्तामलकवत्' बन जाता है।

ऐसा कब होगा ? क्या वर्तमान अवस्था मे ऐसा हो सकेगा जब मानव विविध प्रकार की विषमताओ की दलदल में फसा हुआ है ? क्या धन की उद्दाम लालसा को पालते रहने से आत्मा की मूर्छा हटेगी ? क्या बाहर ही बाहर भटकते रहने से – केवल भौतिकता के पीछे मोहान्ध बनने से आन्तरिकता मे प्रवेश कर सकेगे ? बबूल बोकर आम पाने की कामना सफल नहीं होती है। अगर आत्मा से साक्षात्कार करना है तो विज्ञान और धर्म का सुन्दर समन्वय साधना होगा तथा विज्ञान के स्वस्थ स्वरूप को धर्म-साधना का सबल साधन बनाना होगा।

आत्मा को जगाइये, विज्ञान भी धर्म बन जायगा

आत्मा को जगाने की बात मुख्य है। अगर आत्मा को जागृत बना ले तो फिर विज्ञान का भी दुरूपयोग नहीं किया जा सकेगा। विज्ञान को भी तब मानवता का हितकारी बना दिया जायगा। फिर वह विज्ञान क्या धर्म का कारण नहीं बन जायगा ? लेकिन आत्मा को जगाने के लिये अन्दर के जीवन को देखना पडेगा – अन्दर की शक्ति की अन्दर उतर कर खोज करनी पडेगी। यदि आपको अन्दर की जिज्ञासा है, अन्दर गहराई तक देखना चाहते हैं और अन्दर की लहर को प्रकट करके समग्र स्वरूप को जीवन मे अभिव्यक्त करना चाहते हैं तो आपको विचारपूर्ण वृत्तियो और प्रवृत्तियों से दूर हट जाना होगा।

वस्तुत न विज्ञान का दोष है, न भौतिकता का। दोष होता है मुख्यत इसी आत्मा की विकृति का – इसी की विकृत वृत्तियो का, जो उपलब्ध विज्ञान का या भौतिकता का दुरूपयोग करने की दुर्बुद्धि पैदा करती है। आत्मा को जगाने का अर्थ इसलिये यही है कि विकृत वृत्तियो से छुटकारा लिया जाय – आत्मा का अपना अनुशासन सर्वोच्च रूप से प्रभावशाली बन जाय।

शास्त्रीय वचन और वीतराग देवो की वाणी तो परम पवित्र होती है, लेकिन मनुष्य की बुद्धि मे जब विकार समा जाते है तो वह ऐसी पवित्र वाणी को भी सडी गली बताने लग जाता है। विकारपूर्ण अवस्था है, वही आत्मा की सज्ञाहीनता होती है। जिन मनुष्यो का दिमाग सडा गला होता है, उनको पवित्र वाणी भी सडी गली लगती है। उनको उपन्यास पढने अच्छे लगते हैं – सिनेमा देखना अच्छा लगता है और नाटक रचाने अच्छे लगते हैं लेकिन आत्मा को जागृत बनाने के साधनो

पर उतनी रुचि नहीं जाती।

इस विपरीत गति का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है कि आप सामाजिक धरातल पर छोटी-छोटी बातो का द्वन्द खडा कर देते हैं और महाभारत का सा दृश्य पैदा हो जाता है। लेकिन इस वातावरण मे भी जो जागृत आत्मा वाले होते हैं, वे बुद्धिमान व्यक्ति ऐसे द्वन्दो को सम्हाल लेते हैं। जयपुर के जौहरियो के बीच मे परस्पर भयकर सघर्ष था लेकिन पत्थरो का परीक्षण करने वाले भाइयो ने अपने आपका भी परीक्षण किया और सारे विवादो को समाप्त कर दिया। जिसका रुपक में स्थान-स्थान पर देता हूँ तो छोटे-छोटे गाव वाले भी अपना क्लेश समाप्त कर देते हैं। मानव हृदय को जोड कर ही अन्दर के वस्तु स्वरूप को समझ सकेंगे – विज्ञान और धर्म का सुन्दर समन्वय कर पायेगे। आत्मा को जागृत बना लेंगे तो यह समन्वय इतना उपयोगी सिद्ध होगा कि विज्ञान भी धर्म का रूप बन जायगा।

नोखा
२६ ९ ७६

12

मानसिक रोग घातक, मगर असाध्य नहीं

सभव देव ते धुर सेवो सवे रे
लही प्रभु सेवन भेद।
सेवन कारण पहली भूमिका रे
अभय, अद्वेष अखेद।।

भव्य जनों के लिये जब कभी लम्बी यात्रा का प्रसग उपस्थित होता है और विशिष्ट गन्तव्य स्थान का लक्ष्य बनता है, उस समय वे सम्बल अथवा सहयोग की आवश्यकता अनुभव करते हैं। वे सोचते हैं कि सबल अथवा सहायक ऐसा मिले जिससे लम्बी मुसाफिरी मे उनको थकान नही आवे, हैरानी का अनुभव नही हो, वे कष्ट नहीं पावे तथा उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं सतावे। इन्हीं भावनाओं को लेकर किसी विशिष्ट पुरुष के चरणों मे उपस्थित होते हैं और उसका परामर्श लेने का प्रयास करते हैं। विशिष्ट पुरुष विशिष्ट बात का सकेत वास्तविक दृष्टि से दिया करते हैं। उनकी विशिष्ट बात यात्रा सुगम बनानी हो तब भी काम आती है और किसी शारीरिक अथवा मानसिक रोग का निवारण करना हो या रोग के भय से मुक्त होना हो तब भी काम आती है। उनके परामर्श से मानसिक रोग तक भी कभी असाध्य नहीं रहता।

मोक्ष की असभव यात्रा सभव बन जाती है

कवि आनन्दघन जी ने प्रभु सभवनाथ की स्तुति के प्रसग से भव्य आत्माओं को निर्देशन दिया है कि यदि आप मोक्ष की लम्बी यात्रा शुरू करना चाहते हैं और उस मजिल को तय करना चाहते हैं और यदि आपकी उत्कठा मोक्ष प्राप्ति के लिये

उग्र बन गई है तो उस उत्कठा की पूर्ति मे सही सहयोग दे सके – ऐसे परम पुरुष से ही प्रार्थना करो।

किसी शुभ और कठिन कार्य को आरम्भ करने से पहले पहला काम जो आपको करना है, वह है अभय बनना। प्रार्थना मे तीन बाते बताई गई है–अभय, अद्वेष एव अखेद। इनमे से पहली बात है कि अपने मन मस्तिष्क मे से डर और कायरता की भावना को हटा देवे। इसके साथ ही अपनी हीन भावना को भी दूर कर दे। मैं तुच्छ हूँ – मैं क्या कर सकता हूँ–ऐसी अशक्यता की भावना को मन से निकाल दें और भीतर दृढ सकल्प बनावें कि मेरा यह मानव जीवन अत्यन्त ही शक्तिशाली एव समर्थ जीवन है। इस मानव जीवन मे कठिन से कठिन कार्य को भी मैं अगर हाथ में ले लू तो उसे पूरा कर सकता हूँ। कार्य मे बाधाएँ या आपत्तियाँ आवेगी तो उनका हिम्मत से मुकाबला करूगा लेकिन उनसे कभी विचलित नहीं बनूगा। दृढ सकल्प के साथ परम पुरुषार्थ पूर्वक किसी भी बाधा से भयभीत नहीं होऊगा और अन्य जन जो सफलता सम्पादित नहीं कर पा रहे हैं, उसे मैं प्राप्त करके दिखला दूगा। असभव को भी सभव बना कर बता दूगा।

ऐसी अभय वृत्ति का विकास सबसे पहले आवश्यक है। अधिकाश व्यक्ति किसी भी कठिन कार्य को देखकर यह कह उठते हैं कि यह काम तो होना सभव नहीं है। यह मनुष्य की शक्ति का काम नही है – इसे तो कोई विशिष्टजन ही कर सकता है। ऐसा भय, ऐसी कायरता और ऐसी कर्मण्यता इतनी जल्दी मनुष्य के मन में छा जाती है कि तुरन्त उसकी सारी कार्यशील वृत्तियाँ दब जाती हैं और वह अपने आपको एकदम नि सत्त्व अनुभव करने लग जाता है मानो उसका सारा सत्त्व यकायक शिथिल हो गया हो। यह भयभीतता मनुष्य के मन की सबसे बडी कमजोरी होती है। दूसरे शब्दो मे कहू कि इस प्रकार के मानसिक रोग बडे ही भयकर होते हैं जिनकी चिकित्सा सरलतापूर्वक नहीं हो सकती है।

मोक्ष की असभव यात्रा को वही दृढ सकल्पी सभव बना सकता है, जो सभवनाथ प्रभु के चरणो मे पहुचकर सपूर्ण भय को अपने मन में से निकाल देता है याने कि सभी प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक रोगों का निवारण करके अपने मन को अभय अद्वेष एव अखेद बना लेता है।

शारीरिक रोगो का मूल भी मन मे होता है

शारीरिक रोगो की चिकित्सा शरीर सम्बन्धी चिकित्सक से समय-समय पर कराई जाती है। डॉक्टरों ने इस वैज्ञानिक युग मे ऐसे साधन उपलब्ध कर लिये हैं जिस कारण शारीरिक रोगों से मनुष्य यकायक भय नहीं खाता है। पहले तो

क्षय रोग राज रोग कहलाता था और वह असाध्य माना जाता था। टी बी का नाम सुनते ही कलेजा बैठ जाता था, किन्तु अब इसका कोई डर नही रहा। अब कैंसर आदि रोग असाध्य माने जाते हैं लेकिन इस दिशा में भी काफी खोजबीन चल रही है। इस तरह मनुष्य शारीरिक रोगो से अधिक भयभ्रान्त नही होता है।

किन्तु यह पता लगाया जा रहा है कि शारीरिक रोग कहाँ से आता है ? उसका मूल कारण क्या होता है ? पहले खानपान से और पेट से बीमारी चलती है – यह माना जाता था, लेकिन आधुनिक अनुसधान क्रम ने यह तथ्य स्पष्ट किया है कि प्रत्येक शारीरिक रोग मन की अस्वस्थता से पैदा होता है। मन की अस्त व्यस्तता, मन की चचलता एव मन पर अनियत्रण की अवस्था मूल मे रहती है तो उसके अनुसार शारीरिक ग्रथियो पर दबाव पडता है और उस दबाव के कारण विभिन्न शारीरिक रोग पैदा होते हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से पूर्व मे किये गये कर्मो का उदय व्याधियो का कारण माना गया है जो मुख्यत असाता वेदनीय कर्म होते हैं। लेकिन यह कर्मो का उदय भी मन ही से सम्बद्ध होता है। आप चिन्तन करे कि असाता वेदनीय कर्मो का उपार्जन किसने किया ? इन कर्मो का उपार्जन इस जन्म में नहीं हुआ हो और पिछले जन्म मे हुआ हो, तब भी उनका उपार्जन आत्मा के द्वारा मन की अस्त व्यस्तता से ही हुआ होगा।

मन स्वस्थ नही रहता तो उसके अस्वास्थ्य का दुष्प्रभाव एक ओर शरीर पर पडता है तो दूसरी ओर आत्मा पर भी पडता है। आप खुद अनुभव करते होगे कि कभी किसी खास तरह का सन्ताप हो और मन मे तनाव छाया हुआ हो तो बिना कुछ काम किये ही शरीर मे कितनी भारी थकान महसूस होती है ? क्रोध मन करता है लेकिन उसकी प्रतिक्रिया भुगतनी पडती है शरीर को। यह असर तात्कालिक ही नहीं रहता है बल्कि दीर्घकालीन भी बनता है जिससे शरीर के रक्त प्रवाह, नस सचालन आदि प्रक्रियाओ मे दोष उत्पन्न होते हैं और उनसे शारीरिक रोग जन्म लेते हैं।

दूसरी ओर मन की विकृत वृत्तियो से नये कर्मो का बध होता है, जो जब उदय मे आते हैं तो नाना प्रकार के कष्ट देते हैं। इस तरह सम्पूर्ण वातावरण की समीक्षा करें तो यह तथ्य बोधगम्य हो जाता है कि सारे शारीरिक रोगो का मूल मन की अवस्था में ही होता है। मन रोगी बनता है तो वह चारो ओर के रोगो को एकत्रित कर लेता है। 'मन चगा तो कठोती मे गगा' की कहावत इसीलिये बनी कि मन के रोग मिटाओ तो सारे रोग मिट जायेगे।

मन के रोगो से
यह आत्मा रोगिणी बनी हुई है

मानसिक रोगो का कोई एक कारण, एक परिभाषा या एक लक्षण नहीं होता। यह शास्त्रीय कथन है कि रोने से, रूलाने से, कष्ट देने से और असाता उपजाने से असात वेदनीय कर्म का बध होता है। यह कर्म बध का कार्य आत्मा इस जन्म में कर रही है, पिछले जन्म में कर रही थी और अनादि काल से करती चली आ रही है। मन के रोगों से यह आत्मा रोगिणी बनी हुई है।

इस दृष्टि से जब असाता वेदनीय कर्म दीर्घकाल के बधे हुए होते हैं तो वर्तमान काल में कितनी ही श्रेष्ठ साधना चल रही हो तब भी वे पूर्व कर्म अब उदय मे आकर शरीर मे अनेक प्रकार के असह्य रोगो की उत्पत्ति कर सकते हैं तो आज के स्वस्थ मन को भी चचल बनाकर उसे असन्तुलित कर सकते हैं। किन्तु यदि पूर्वार्जित कर्मो के उदय के समय मन को असन्तुलित करने से रोका जा सके और आये हुए रोगों को शान्तिपूर्वक तटस्थ भाव से सह सकें तो आगे रोगो और कर्मो की उत्त्पत्ति को प्रतिबधित बना सकते हैं।

रोगों के शमन के उपाय इस विचार से प्रचलित चिकित्सा पद्धतियो से भी आगे बढकर मानसिक अवस्थाओ में खोजे जाने चाहिये। मन की अवस्था विकृत अथवा असन्तुलित होती है तो प्रमुख उपाय मनोदशा के सशोधन का सामने आता है। अभी तक मनुष्य अपने मन के सशोधन का महत्त्व नही समझ पाया है। इस उपाय से भी अभी उसे औषधियो के प्रयोग पर अधिक विश्वास है, इस कारण सबसे पहले औषधियो के प्रयोग से शरीर का सुस्वास्थ्य प्राप्त करने का यत्न करता है। सामान्य रूप से वह मानसिक चिकित्सा की तरफ नहीं मुडता है।

आज कुछ वैज्ञानिक इस प्रक्रिया को प्रभावशाली बनाने का प्रयास कर रहे हैं कि वे प्रत्येक रोग की चिकित्सा शारीरिक मुद्राओ तथा मानसिक सकल्प शक्ति की सक्रियता के आधार पर सफलतापूर्वक कर सके। कई मानसवेत्ताओं का यह दृष्टिकोण भी बन रहा है कि औषधि से रोग निवारण नही होता, मात्र मन मे विश्वास पैदा होता है। रोग निवारण उस मन के विश्वास से होता है, औषधि तो सिर्फ निमित्त का काम करती है। मन की गति ही रोग पैदा करने और रोग हटाने में जिम्मेदार होती है।

मानसिक चिकित्सा पद्धति का जब पूर्ण रूप से विकास होगा तो सभव है कि मन की विचारणा और मन की गतिविधियो मे आधारगत परिवर्तन दिखाई दें। किन्तु यह तथ्य सही है कि मन के रोगों से यह आत्मा और यह शरीर दोनो रोगग्रस्त हो रहे हैं। सारे रोगो की जड मनुष्य के मन मे रही हुई है। इस जड की स्थिति को इस आत्मा ने भली प्रकार नहीं समझी और वह उसे इस जन्म में भी

समझने की चेष्टा नहीं कर रही है। मन की स्वच्छन्दता अन्दर और बाहर सब ओर उत्तेजना तथा उद्दडता की दशा जगाती है जिससे सभी प्रकार के रोगों की उत्पत्ति होती है।

मन के विकारो से
आचरण की विकार ग्रस्तता

मन के विकार वचन और व्यवहार मे ही फूटते हैं और उससे आचरण की विकारग्रस्तता गहरी बनती जाती है। आचरण जब बिगड़ता है तो मनुष्य का आहार विहार बिगडने लगता है। क्या भक्ष्य है और क्या अभक्ष्य तथा क्या करणीय है और क्या अकरणीय – इसका विचार मनुष्य को नहीं रहता।

आचरण की विकारग्रस्तता से मानसिक रूग्णता बढती जाती है। मनुष्य अभक्ष्य पदार्थो को ग्रहण करना आरभ करता है, उसका कारण मानसिक रोग ही होता है, जिसके कारण वह खाने लायक और नहीं खाने लायक का भेद नहीं कर पाता है। किसी व्यक्ति ने कह दिया कि अमुक पदार्थ खाओगे तो ताकतवर बन जाओगे। बस मानसिक रोगी उसके कथन की कोई परीक्षा नहीं करता तथा नहीं खाने योग्य पदार्थो को भी खाना शुरू कर देता है। कुछ लोग अपने जन्मजात सस्कारों से अभक्ष्य पदार्थ ग्रहण नहीं करते हैं, लेकिन आज के समय में ये सस्कारगत मर्यादाएँ भी टूट रही हैं और कुलवान घरों के लडके अभक्ष्य पदार्थ भी खाने लग गये हैं। अभक्ष्य पदार्थो का प्रचार भी खेदजनक है कि स्कूलों मे भी अडे खाने का महत्त्व प्रतिपादित किया जाता है। यह छोटे-छोटे बच्चों के सस्कारो को बिगाडने की कुचेष्टा है। कुसगति के कारण मदिरा पान और मासभक्षण का चलन भी अच्छे सस्कारों वाले लोगो में ज्यादा बढता जा रहा है। इस प्रकार की विकारग्रस्तता के कारण मन और शरीर की नई-नई बीमारियाँ भी फैल रही हैं।

महात्मा गाधी की आत्मकथा में एक उल्लेख आया है कि वे अभक्ष्य भोजन से बचे रहना चाहते थे, लेकिन उनके दोस्तों ने उनको गफलत मे रखकर उन्हे प्रकारान्तर से मास खिला दिया। वे लिखते हैं कि उन्हे उस रोज बेहद बेचैनी रही और उन्हे ऐसा लगा, जैसे उनके पेट में बकरा बोल रहा हो। गाधीजी शुरू से मासाहारी नहीं थे, उन्होंने अपने विचारो मे अहिसा अपना ली थी। यह लिखना गाधीजी का सकेत है कि मास खाने से मानसिक सतुलन बिगडता है और खाने वाला मानसिक रोग का रोगी बनता है।

मासाहार मनुष्य के लिये अप्राकृतिक एव अस्वास्थ्यकर

मासाहार पचाने योग्य मनुष्य की जठराग्नि नही होती है। ऐसी जठराग्नि तो जन्म-जात मासाहारी जीवो की होती है, जैसे सिह, कुत्ता, बिल्ली आदि की। इन जीवों के लक्षण मनुष्य से भिन्न होते हैं। मासाहारी जीव जीम से पानी पीते हैं तो उनके दात व नाखून तीखे होते हैं। मनुष्य के लिये मासाहार अप्राकृतिक तथा अस्वास्थ्यकर होता है।

मासाहार की तरफ वही बढता है जो रसना इन्द्रिय का गुलाम बन जाता है। कई बार डॉक्टर लिख देते हैं कि ताकत के लिये अडा खाओ, जबकि तटस्थ दृष्टि से अनुसधान करने वाले डॉक्टरो ने निर्णय लिया है कि अडे में मयकर रोगकारक पदार्थ होते हैं। खाने वाले अपनी बुद्धि को गिरवी रखकर उसका अनुकरण कर लेते हैं। शाकाहारी जाति वालों की सन्ताने भी आज कुसगति में पडकर अडा, मास खाने लग गई हैं। क्या यह बात मालूम है आपको ? आज बच्चों के मॉ-बाप चाहते हैं कि हमारे बच्चे इगलिश स्कूलों मे पढें, लेकिन वहॉ क्या-क्या खाना सिखला दिया जाता है – इसका कौन ध्यान रखे ? अजमेर के एक भाई ने मुझे किस्सा सुनाया था कि उनका बच्चा इगलिश स्कूल में पढने जाता था, उसने एक दिन भोलेपन से कहा कि उसको स्कूल मे रसगुल्ले जैसी चीज खाने को दी गई थी जो रसगुल्ला तो नहीं था। मेरे कहने का मतलब यह है कि आप ठीक तरह से अपनी सन्तान का ख्याल नहीं रखते हैं, तमी खान-पान का ऐसा बिगाड बढता जा रहा है। आप यह नहीं देखते कि बच्चा किस प्रकार की सगति में घूमता है और वह कहॉ क्या करता रहता है ? आप हजारों रुपया खर्च कर दे लेकिन अपने बच्चे के चरित्र का निर्माण न कर सके – वह मन और शरीर से स्वस्थ रहे ऐसे सस्कार न दे सके तो उस खर्च का कोई सार नही है। आपके बच्चे पापानुबन्ध मूल के पाप करने वाले बन रहे हैं।

एक तरफ तो ऐसा पुण्य कार्य किया जा रहा है कि जो लोग पीढियो से मास मदिरा का सेवन करते आ रहे हैं, वे सत्सग के प्रभाव से इन सबका त्याग कर रहे हैं, – अपने जीवन में पवित्रता ला रहे हैं और दूसरी तरफ पीढियो से आप अपने आपको अहिसा के अवतार भगवान् महावीर के अनुयायी होने का दावा करते हैं और आप ही की सन्तानें मास भक्षण जैसे हिसक कार्य मे प्रवृत्त हो रही हैं – यह कितनी दयनीय तुलना है। यह गहराई से सोचने लायक है।

जब किसी मरीज को डॉक्टर बाहरी खून देते हैं तो उस खून को रोगी के खून से मिलान करके देते हैं। विजातीय खून नहीं दिया जा सकता है। तो सोचे कि अन्य प्राणियो का मास खाने से पहले क्या अपने मास से उसका मिलान किया

जाता है ? ऐसा नहीं होता है। तो निश्चित मानिये कि जब विजातीय खून माफिक नही आता तो मास माफिक कैसे आ सकता है ? अत मास भक्षण नाना प्रकार के मानसिक एव शारीरिक रोगों को उत्पन्न करता है। ऐसे अप्राकृतिक एव अस्वास्थ्यकर मास भक्षण को सस्कारी परिवारों मे तो तुरन्त रोकिये और उसके बाद अनेक दलित एव पतित जाति के लोगो को श्रेष्ठ सस्कार देकर मास भक्षण जैसी घोर बुराईयों से छुटकारा दिलाने के शुभ काम मे अपना पूर्ण सहयोग दीजिये।

मन का रोग, शरीर का रोग और जीवन का रोग

रोग का आरभ मन से होता है। मन मे शका पैदा होती है, अविश्वास जड़ें जमाता है, भय का भूत समाता है, अस्थिरता पनपती है, तनाव की स्थिति फैलती है अथवा चचलता से विकारग्रस्तता आती है तो समझिये कि मन का स्वास्थ्य खराब होने लगा है। मन मे यदि निर्विकार भावना हो – निर्द्वन्द्व निर्भयता हो तो वहाँ अद्भुत प्रकार का विश्वास दिखाई देगा। उस विश्वास का बल इतना अद्भुत होगा कि हकीकत मे असह्य विपत्ति आ जायगी, तब भी विश्वासी व्यक्ति का धैर्य खडित नही होगा।

मन के विश्वास की एक कहानी याद गई है। पुराने जमाने मे एक व्यक्ति धन कमाने के उद्देश्य से परदेश के लिये रवाना हुआ। शाम के समय वह एक गॉव मे पहुँचा तो रात बिताने के लिये उसने एक बुढिया के घर मे आश्रय लिया। सुबह बहुत जल्दी उठकर वह चलने की तैयारी करने लगा तो बुढिया ने अधेरे मे ही जल्दी-जल्दी बिलौना करके उसको छाछ पिलाकर रवाना किया। वह तो चला गया, लेकिन दिन उग आने के बाद बुढिया ने छाछ की हाडी देखी तो दग रह गई। अधेरे में हाडी मे पूरा साप बिलो लिया गया था और सारी छाछ नीली पड़ रही थी। बुढिया को भारी अफसोस हुआ कि उसकी बेपरवाही से उस यात्री की मृत्यु हो चुकी होगी।

दो वर्ष बीत गये तब अचानक एक शाम को पुन उस यात्री को अपने घर आया देखकर वह तो आश्चर्यचकित रह गई। परदेश से काफी धन कमाकर वह अपने गाव लौट रहा था तो सोचा कि लौटते वक्त भी माजी के घर ठहर कर कुछ भेंट उनको भी दे दूगा। बुढिया तो जैसे चीखकर बोली – अरे, तुम अभी तक जिन्दा हो। उसने शाति से पूछा – क्यो मांजी, क्या बात है ? लेकिन ज्यो ही बुढिया ने साप वाली घटना सुनाई कि उसने तो चौंककर 'हे' कहा और उसके प्राण निकल गये।

मन की अस्वस्थता का घातक परिणाम देखा आपने ? असल जहर से जो नहीं मरा, वह सिर्फ जहर की बात से मर गया। मन का इससे अधिक शरीर पर और क्या कुप्रभाव पडेगा ? मन का रोग शरीर को रुग्ण और जर्जर ही नही बना देता, उसे जीवन से भी वचित कर देता है। जितनी वास्तविक विपत्ति मनुष्य को नहीं मारती, उतनी उस विपत्ति की आशका – उसका भय जो मन में गहरे समा जाता है, वह मनुष्य को मार देता है, बल्कि यह कहे तो भी चलेगा कि बिना विपत्ति के अस्तित्त्व के, कोरी उसकी आशका या कोरा भय ही मनुष्य के जीवन को नष्ट कर डालता है।

यह तो मन के रोगो के द्वारा शरीर पर पडने वाले स्थूल प्रभाव का उल्लेख किया गया है, लेकिन मन के रोगो का जो सूक्ष्म कुप्रभाव जीवन की अनेकानेक वृत्तिया और प्रवृत्तियो पर गिरता है, वह तो अत्यधिक घातक एव भयावह होता है। वह जीवन भी रोगी बन जाता है और जीवन के रोग क्या-क्या होते हैं ? ये जो सस्कार बिगडते हैं, आचरणहीनता आती है, सद्‌गुणो की तरफ रुचि नहीं जाती है तथा विषय कषायो मे लिप्तता बढती है – सभी जीवन के रोग ही तो हैं। जिन वृत्तियो और प्रवृत्तियों से जीवन की स्वस्थता बिगड़ जाती हो, उन्हे जीवन के रोग रूप मे ही देखना होगा। इस तरह जड मे मन का रोग होता है, वह शरीर को भी रोगी बनाता है तो जीवन को भी रोगी बनाता है।

मानसिक रोग घातक होते है, मगर असाध्य नही

मानसिक रोग सभी प्रकार के स्वास्थ्य के लिये घातक होते हैं, मगर यह न समझे कि ये रोग असाध्य होते हैं याने कि एक बार मन के रोगी बन जाने पर मन के रोगो का निवारण किया ही नहीं जा सकता है। इसके लिये पहले स्वास्थ्य के अभिप्राय को समझ लीजिये।

'स्वस्थ' या 'स्वास्थ्य' शब्दो का प्रयोग इतना सामान्य हो गया है कि इनका गूढ अर्थ जल्दी से जानकारी मे नहीं आता है। स्वस्थ शब्द 'स्व' एव 'स्थ' से मिल कर बना है। स्व का अर्थ है स्वय या निज और स्थ का अर्थ है स्थित होना। स्वय में या निज में स्थित होने की स्थिति का नाम है स्वस्थ। आप प्रश्न कर सकते हैं कि स्वय मे कैसे स्थित हों ? जब किसी को स्वय मे स्थित होने की बात कही जाती है, उसका साफ सकेत यही होता है कि वह उस समय स्वय मे स्थित नही है। यदि स्वय मे स्थित नहीं है तो दूसरे में कहॉ स्थित है ?

पहले 'स्वय' पर भी चिन्तन करें कि वह क्या है ? स्वय का आप भले ही अनुसरण न करते हो, लेकिन स्वय को जानते जरूर हैं। यह स्वय वही है जो चिन्तन करने वाला है, जो समझने वाला है और जो जागने वाला है। यह स्वय

अपनी आत्मा है। स्वस्थ वही कहलाता है जो अपनी आत्मा मे स्थित हो जाता है। आत्मा मे जो स्थित नहीं होता और पर-पदार्थो मे स्थित होता है, उसे अस्वस्थ कहते हैं। आत्मा में स्थित होने का अर्थ होता है निजत्व की अनुभूति करना – अन्दर की आवाज का अनुसरण करते हुए जीवन का उन्नत निर्माण करना। यह है स्वास्थ्य का लक्षण।

इस 'स्वस्थ' शब्द को सभी के साथ जोड कर उसके स्वास्थ्य का अनुमान लगाया जा सकता है। मन अपने मे स्थित रहे तो वह स्वस्थ रहेगा और चूकि मन स्वय आत्मा का गुण होता है अत मूल मे आत्मा अगर स्वस्थ रहे तो मन का स्वस्थ रहना आसान हो जायगा। मानसिक अस्वास्थ्य मूल मे आत्मिक अस्वास्थ्य का प्रतीक होता है। मानसिक रोग उसी से उपजते हैं। इन रोगों का असर बडा घातक होता है लेकिन ये असाध्य नही होते । स्व में स्थिति होकर इन रोगों का भलीभाति निवारण किया जा सकता है और जिन रोगो का निवारण किया जा सकता हो – कोई ही रोगी ऐसा मूर्ख मिलेगा जो निवारण के लिये तुरन्त ही यत्नशील न बने। मानसिक रोगों की यदि ग्रस्तता आप अपने भीतर भी महसूस करते हों तो हताश न बने और पूरे उत्साह से स्व मे स्थित बनने का अभ्यास आरभ करदे।

स्व मे स्थित बन जाय
तो स्वस्थ होकर सब सभव बना दे

आज मनुष्य उदासीन बन रहा है – खोया खोया सा दिखाई दे रहा है क्योंकि वह मन से स्वस्थ नहीं है, शरीर से स्वस्थ नहीं है और आत्मा के स्वास्थ्य की तो बात ही क्या करे ? प्रत्येक व्यक्ति अपने कलेजे पर हाथ रखकर देखे कि क्या उसको अपनी समग्र परिस्थितियों से वास्तव मे प्रसन्नता है ? क्या उसे अपने सम्पूर्ण वातावरण से सतोष है ? यदि वाछित प्रसन्नता और सन्तोष नहीं है तो समझना चाहिये कि वह रूग्ण है और ऐसा हताश रूग्ण है जो यह समझ बैठा है कि उसका रोग निवारण सभव नहीं है।

ऐसी हताशा को दूर कीजिये, स्व में स्थित बन जाइये और सभवनाथ भगवान् के चरणो मे पॅहुचिये, तब आपको अनुभव ही नहीं होगा, अपितु आपका विश्वास बन जायगा कि आप स्वस्थ होना तो क्या है – किसी असभव को भी सभव बना कर दिखा सकते हैं। सभवदेव की सेवा ऐसी अनूठी होती है। यह सेवा स्वस्थ बनने की सबसे बडी औषधि है। इस औषधि का सविधि सेवन करें और आत्मा को नया उन्नतिशील मोड दे तो आप किसी भी प्रकार के रोग से पीडित नही रहेंगे।

नोखा
२८ ९ ७६

13

सेव्य, सेवक तथा सेवा के प्रकार

सभव देव ते धुर,
सेवो सवे रे

सभवनाथ भगवान् के चरणों मे कवि आनन्दघनजी ने जो भाव अभिव्यक्त किये हैं, उन भावों की दृष्टि से चिन्तन किया जाना चाहिये। भगवान् की अगर सेवा बन जाय तो इस जीवन मे महत्वपूर्ण शक्ति प्रकट हो सकती है। असभव को भी सभव बनाने की यह शक्ति इस आत्मा को सम्पादित हो सके – इस दृष्टिकोण से इस प्रार्थना से प्रेरणा ग्रहण करनी है।

सेवा करने के भव्य प्रसग को इसलिये भव्य तरीके से ही समझ लेना है। सेवा करने की जब नम्र भावना का निर्माण होता है और उसका वेग प्रबल बनता है तो सेवा करने वाले के अन्तर्हृदय में सेवक कहलाने की गहरी इच्छा जागती है। सेवक को तब यह विवेक बनाना चाहिये कि वह किसकी सेवा करे–उसके सेव्य कौन हो सकते हैं ? फिर सेवा भी एक प्रकार की नहीं होती है और वह कई प्रकार से की जा सकती है, अत उन प्रकारो को समझते हुए एक सेवक अपने सेव्य की यथास्थान यथायोग्य रीति से सेवा करे, तब सेवा का सुफल प्रकट हो सकता है।

मन, वचन, काया के माध्यमो से सेवा के प्रकार

सेवा के विभिन्न रूप होते हैं। सेवा का एक प्रकार शारीरिक भी होता है जबकि सामान्य जन इस शारीरिक सेवा को ही सम्पूर्ण सेवा का रूप समझता है। किसी के हाथ पैर दबा देना, औषधि आदि लाकर दे देना, भोजन करा देना या अपने शरीर के माध्यम से अन्य किसी प्रकार की सहायता जरूरतमन्द को पहुँचा

देना – ये सब शारीरिक सेवा के रूप होते हैं। सामान्य जन तो इतनी सी ही बात को सेवा के रूप मे ले करके अपने आप मे सन्तुष्ट हो जाता है कि हम सेवा कर रहे हैं । लेकिन यह शारीरिक सेवा है और शारीरिक सेवा करने वाले भाई बहिन अधिक सख्या मे उपलब्ध हो सकेंगे।

परन्तु शारीरिक सेवा के साथ-साथ मानसिक एव वाचिक सेवा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। मानसिक, वाचिक एव शारीरिक सेवाओ का शुभ सयोग बनता है तो वह सेवा का भव्य रूप निराला ही होता है। जहॉ शारीरिक सेवा बहुत की जा रही है, लेकिन उसके साथ सेवा करने वाला सेव्य के प्रति वचन के तीर छोडता जाता है कि सेव्य के हृदय का छेदन हो जाय तो ऐसा सेवक सेवा करते हुए भी सेवा के लाभ से वचित रह जाता है। बहुत से ऐसे व्यक्ति दिखाई देगे कि जो शरीर से भरपूर सेवा करते है मगर शब्दो के माध्यम से सेव्य को तग करते रहते हैं कि तुम्हारी इतनी सेवा कर रहे हैं, फिर भी तुम कोई यश नहीं देते हो। रात दिन सब काम बिगाड कर और हर तरह की तकलीफ देखकर तुम्हारी सेवा करता हू सो क्या तुम्हारे बाप का नौकर हूँ–इस तरह ताने मारते जाते हैं। ऐसे व्यक्ति शरीर के माध्यम से सेवा करते हुए भी वचन के माध्यम को बिगाड कर सारी सेवा के स्वरूप को बिगाड देते हैं।

ऐसे बहुतेरे प्रसग कई स्थानो पर आते हैं। स्व आचार्य देव फरमाया करते थे कि दुष्काल के प्रसग पर एक सेठ ने यह सोचा कि मेरे परिवार के लोगो की सख्या काफी है तथा मेरे पास अन्न सामग्री भी काफी है अत दुष्काल के समय में मैं उनकी सेवा करू। उसने अपने सारे भाई बन्धुओं को इस दृष्टि से निवदेन किया कि दुष्काल से आप घबरा कर कहीं बाहर नही जावे तथा न बच्चे बच्चियो को भटकावे। आप मेरी सेवा को अगीकार कर मेरी हवेली पर दोनों समय भोजन करते रहे। इस तरह सब लोग सेठ के यहॉ भोजन करने लगे।

इस तरह बारह माह व्यतीत हो गये और सर्वत्र सुकाल का समय आ गया। तब सेठ ने सोचा कि मैंने अपने भाई बन्धुओ की नि स्वार्थ भाव से सेवा की है और अब वायुमडल सुन्दर बन गया है सो अब सब अपने-अपने घरो को लौट जावे और अपनी भोज्य सामग्री स्वय जुटा कर अपना निर्वाह चलावे। इसलिये अन्त में सबको एक प्रीतिभोज देदू ताकि सारे सेवा कार्य का सुन्दर समापन हो जावे। यदि बहुत अच्छा कार्य करने पर भी अन्तिम समापन योग्य नहीं बने तो पिछले कार्य मे भी कुछ धूमिलता आ जाती है। सेठ ने सबको प्रीतिभोज का आमत्रण दिया और सबने कृत भाव से उस आमत्रण को स्वीकार कर लिया। भोजन की बढिया सामग्री तैयार करवाई गई तथा नम्र व प्रेम भाव से सेठ स्वय परोसगारी करने लगा। उसने अपने परिवार के लोगो को भी कहा कि वे भी खुद परोसगारी करके सेवा का लाभ ले। सभी लोग पक्तियों मे बेठे थे। सेठ का पुत्र भी परोसगारी कर

रहा था। वहाँ बहिनो की पक्ति लगी हुई थी। एक बहिन को परोस कर जल्दबाजी मे वह आगे बढ गया और बीच मे एक बहिन को वस्तु परोसना भूल गया । उस बहिन ने सहज भाव से उसे वस्त्र पकड कर खीचा कि वह उसको भी परोस कर आगे बढे। इतनी सी बात हुई कि सेठ के कुवर साहब का माथा एकदम गर्म हो गया और वह बोल उठा – बारह-बारह महीने हमारे टुकडे खाते हुए हो गये, फिर भी कपडे पकडना नहीं छूटा – कुछ शर्म भी नहीं है। यह सुनते ही सबका सारा खाना पीना जहर हो गया। जितने भी जीमने वाले थे सारे के सारे उठ खडे हुए। सेठ नहीं समझ पाया कि यह क्या हो गया। जब उसे सारा वृत्तान्त मालूम हुआ तो वह उस बहिन से और सब लोगो से क्षमायाचना करने लगा और कहने लगा – आप लोग मेरी इज्जत रख ले। बच्चे ने नादानी से कह दिया, उसके लिये मैं माफी मागता हू। आपने मुझे सेवा का अवसर दिया – यह आप पर अहसान नही है, आप लोगों ने मेरे पर अहसान किया है। सेठ की इस विनम्रता के बाद लोग फिर से भोजन करने बैठे।

कहने का तात्पर्य यह है कि वाचिक सेवा समुचित नहीं होती है तो जितनी अन्य प्रकार से सेवा की गई हो, उस पर पानी फिर जाता है।

मानसिक सेवा का कार्य और भी अधिक कठिन होता है। मन मे ऊचनीच के भाव न लाकर – घृणा या ग्लानि का अश मात्र भी न रखकर इस दृष्टिकोण से सेवा की जाय कि यह सेव्य की सेवा नहीं है, मेरी अपनी आत्मा की सेवा है। उसको शान्ति पहुँचाऊगा तो वास्तव मे मेरी अपनी आत्मा को ही शान्ति प्राप्त होगी। सेव्य मेरा उपकारी है – मुझे लाभ दे रहा है। मुझे ऐसा लाभ चाहिये और इस लाभ के लिये मैं सदा तत्पर रहू। इस प्रकार मन को अर्पण करके जब सेवक सेव्य की सेवा करता है तो वह सेवा का श्रेष्ठ स्वरूप बनता है।

चतुर्विध सघ मे परस्पर सेवा का सयोग

प्रभु महावीर के शासन में चतुर्विध सघ की सेवा का जो प्रसग उपस्थित हुआ है, वह भी एक अपूर्व प्रसग है। श्रावक श्रावक के नाते साधर्मी है तो श्रावक श्रावक की सेवा करता है। श्रावक साधु की भी सेवा कर सकता है लेकिन जिस रूप मे वह श्रावक की सेवा करता है उसी रूप मे साधु की सेवा करने का उसके लिये विधान नहीं है। एक श्रावक श्रावक-श्राविका वर्ग को भोजन करा सकता है या उनकी अन्य प्रकार से सेवा कर सकता है। किन्तु वह साधु साध्वी वर्ग की उस रूप मे सेवा नहीं कर सकता है। यदि कोई श्रावक चाहे कि महाराज के पैर दबाऊ तो वह उनके पैर नहीं दबा सकता है। यदि महाराज के पैर दबाने के लिये श्रावक

बेठता है तो वह महाराज के साधु नियम को भग करता है – उसकी अवहेलना करता है। तब वह उनकी सेवा नहीं, कुसेवा बन जाती है।

जिन महात्मा के पैर दबाने का प्रसग है, वैसा करना कदाचित् आवश्यक हो तो सन्त सन्त के पैर दबा सकता है, वह श्रावक से पैर नहीं दबवा सकता है। कोई गृहस्थ यह सोचे कि अपने मकान से आहार लाकर महाराज को उनके स्थान पर बेहरा दू तो उनकी सेवा हो जायगी तो वह भी करने योग्य नहीं है। यह सेवा योग्य सेवा नहीं होगी क्योकि ऐसा करना सन्त मर्यादा के प्रतिकूल है। कभी बहिनो की यह भावना रहती है कि महाराज बस्ती मे है उस वक्त तो उनकी सेवा हो ही जाती है– भोजन आगे पीछे मिल जाता है । लेकिन जब कभी लम्बा विहार करते हैं, अजान बस्ती मे चले जाते हैं तब भोजन पानी की दिक्कत पडेगी सो रास्ते में जाकर उनकी सेवा कर लें अर्थात् महाराज के लिये टिफिन भर कर लें जावे और उनको आहार पानी बेहरादे । यदि वे नही ले तो महाराज जिस अजान बस्ती मे बिराजें वहॉ जाकर रसोई बनाकर सेवा का लाभ ले लें। कदाचित् महाराज पूछ ले कि रसोई क्यों बनाई तो कह दे कि रसोई हमारे जीमने के वास्ते बनाई है और महाराज उसे ग्रहण कर लें। ऐसी भावना कई बहनें रखती हैं लेकिन वहॉ पर विवेक रखना चाहिये कि इस तरह साधु की सेवा नहीं की जाती है। समझ भी ले कि रास्ते चल कर एक परिवार आया और उसने कदाचित् अपने लिये भी रसोई बनाई लेकिन तीन व्यक्तियो की जगह पन्द्रह व्यक्तियो की रसोई बना ली और महाराज गोचरी कर ले – यह भी समीचीन नहीं है। प्रथम तो महाराज को ऐसी जगह भिक्षा के लिये जाना नहीं चाहिये और अगर चले भी गये हैं तो उन्हें पूछकर सन्तोष कर लेना चाहिये कि रसोई इतनी क्यों बनाई है ? अगर नही पूछे और दस ग्यारह सन्तों के योग्य आहार गोचरी में ले आवें तो स्पष्ट तौर से साधु के महाव्रत में दोष लगता है। वह साधु की सेवा नहीं, कुसेवा हुई ऐसा समझना चाहिये। इससे जो कुछ भी प्रसग आयगा, वह उस श्रावक के लिये हितावह नहीं होगा।

ठाणाग सूत्र के तीसरे ठाणा मे शास्त्रकारो ने स्पष्ट बताया है कि जो श्रावक हिसा करके, झूठ बोल करके यदि साधु को भिक्षा देता है तो वह अल्प आयु का बध करता है। अल्प आयु के बध का अर्थ आप समझ गये होंगे । एक तो हिसा की और दूसरा झूठ बोले – आवश्यकता तीन जनों की रसोई की थी और पन्द्रह जनों की रसोई बनाई तो साफ है कि उसके मन मे साधुओ का निमित्त था और बेहराते समय भी झूठ बोला कि रसोई अपने लिये ही बनाई है। तो दोनो पाप हो गये हिसा का भी और असत्य भाषण का भी । साधु को नहीं कल्पे ऐसा आहार उसे दिया तो ऐसे व्यक्तियों को अल्प वय का कुफल मिलेगा याने कि अगले जन्म में अच्छे घर में वैसा जीव जन्म तो ले लेगा, मगर चार पाच वर्ष की

आयु मे ही अपनी जीवन लीला समाप्त कर लेगा । यह शास्त्रकारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति है।

प्रत्येक श्रावक को इस दृष्टि से समझने की आवश्यकता है कि जहॉ भी सेवा की जाय – यथायोग्य रीति से की जाय। मन का भाव शुद्ध होता है, उस पर भी अविधि करने से सेवा का सुफल नहीं मिलता बल्कि उसका कुफल भोगना पड जाता है। अत योग्य सेवा ही की जाय, नियम के विपरीत नही।

साधु की सेवा
किस विधि से की जा सकती है ?

साधु की सेवा करने की शुद्ध भावना अवश्य रखनी चाहिये, लेकिन वह सेवा साधु नियमों के अनुरूप विधिपूर्वक ही की जानी चाहिये। आहार पानी की दृष्टि से भी साधु की सेवा करनी है तो उसे इस विधि से कर सकते हैं कि उस अजान बस्ती मे महाराज के लिये स्वय रसोई न बनाकर वहॉ जो भिक्षा लायक घर दीखे, उन कृषक परिवारों को साधु की भिक्षाचरी की रीति का ज्ञान करावें कि तुम्हारे यहॉ सहज भाव से बाजरे की रोटी या जो भी खाना बनता हो उसी में से अगर महाराज आ जावे तो इस प्रकार के विवेक से उनको भिक्षा देदे। यह भी ज्ञान करावें कि तुम्हारे यहॉ दूध दही के जो बरतन आदि धुलते हैं, उस पानी को फैंके नहीं बल्कि विवेक के साथ महाराज के लिये रहने दे। कदाचित् सन्त आ जाय तो उन्हे बेहरा कर सेवा का लाभ लें। उनको आप समझा सकते हैं क़ि साधु महान् आत्मा होते हैं, कल्पतरू के तुल्य होते हैं सो वे तुम्हारे घर भिक्षा के निमित्त से आ जाय तो सेवा का सौभाग्यदायक साधन बनता है।

वे कृषक परिवार या अन्य लोग किसी भी धर्म को मानते हो, उनको ऐसा सहज भाव से समझा दे तो आपके लिये भी धर्म दलाली का कारण बन जाता है । ऐसी धर्म दलाली करने वाले श्रावक महान् पुण्य का बध करते हैं।

सन्तों के लिये बनाया हुआ भोजन सन्त ग्रहण नहीं करते हैं और न वे टिफिन मे लाया हुआ भोजन भी ग्रहण करते हैं। हॉ, जहॉ पाच व्यक्ति जीमने वाले हों, वहॉ एक व्यक्ति के खाने जितना भोजन बच सकता है तो उतना सन्त ले सकते हैं। टिफिन में लाया हुआ भोजन यदि किसी सन्त ने एक बार भी ले लिया तो लोगो को मालूम हो जायगा कि महाराज ऐसा भोजन ले लेते हैं, तब फिर टिफिनों का ताता लग जायगा। वहॉ पर निर्दोषता की स्थिति नहीं रहेगी। इसलिये श्रावक साधु की सेवा किस विधि से कर सकता है – इसकी उसको पूरी-पूरी जानकारी होनी चाहिये।

मर्यादाओ की सुरक्षा सेवा का पहला उद्देश्य रहे

श्रावक साधु के प्रति अपनी सेवा के पहले उद्देश्य को समझ ले कि उस सेवा से साधु की मर्यादाएँ सुरक्षित रहनी चाहिये। सेवा का दृष्टिकोण शुभता का होता है लेकिन ऐसी सेवा की जाय जिससे साधु के आचार को दोष लगे तो वैसी अशुभता लानी सेवक के लिये समुचित नही होती है। श्रावक इस कारण साधु की मर्यादाओ को सुरक्षित रखने के लिये भी धर्म दलाली कर सकता है। श्रावक को साधु की शारीरिक अस्वस्थता की जानकारी हो जाय तो वह उन्हें डॉक्टर वैद्य के यहाँ ले जा सकता है और औषधि के लिये कह सकता है। कदाचित् औषधि लेना आवश्यक है और औषधि नही दी जायगी तो सयमी जीवन खतरे में पड जायगा – यह देखकर वह साफ कह सकता है कि औषधि बाजार से खरीद कर लानी पडेगी, लेकिन आप उसको ग्रहण कीजिये।

शास्त्रकार कहते हैं कि आवश्यक सेवा सत्यता के साथ की जाय। उसमे अल्प पाप होता है लेकिन महान् पुण्य का उपार्जन होता है । तो सन्तो की सेवा करते समय श्रावक को पूरा विवेक रखना चाहिये। श्रावक लोग अगर मुलाहिजे मे पडकर सन्तो की मर्यादा भग करना चाहते हैं तो वह सन्तो की कुसेवा होगी जिसे कदापि नही करनी चाहिये। श्रावक मे तो इतना अधिक विवेक होना चाहिये कि अगर कहीं सन्त भी कमजोर बनकर मर्यादा से अलग हटने की चेष्टा करे तो उन्हें ठीक रास्ते पर बनाये रखें। साधु आचार की मर्यादाओ की रक्षा उसी रूप में आवश्यक है, जिस रूप मे पानी से लबालब भरे एक बाध की पाल की सतर्क रक्षा की जाती है।

साधु दूसरे साधु की सेवा आग्रह भाव से करे

साधु जब दूसरे साधु की सेवा करे तो वहाँ वह आग्रह भाव से चले। किसी साधु को मालूम हो जाय कि अमुक सन्त कष्ट पा रहा है और अगर वह अध्ययन भी कर रहा हो या अन्य आवश्यक कार्य में भी व्यस्त हो, तब भी वह सेवा के कार्य को प्रमुखता दे। अन्य समी कार्यो को उस समय वह गौण कर ले। ऐसी आग्रह भावना रखकर जब एक साधु दूसरे साधु की सेवा करता है तो उसे अपूर्व लाभ मिलता हे।

मनसा, वाचा, कर्मणा सेवा की भावना से ओतप्रोत होकर सेवा करने वाला साधु यही विचारणा करे कि वह रोगी साधु की सेवा करके उसके ऊपर कोई

उपकार नहीं कर रहा है, बल्कि वह अपना ही उपकार कर रहा है, रोगी साधु भले ही उसका उपकार माने। सेवा मे स्थिर रहकर वह सेव्य की सेवा करता है और नम्र शब्दो मे कहता है – आप घबरावे नही, मैं आपकी सेवा मे जुटा रहूगा तो वह पूरी तरह से रोगी साधु को साता उपजाता है। मन मे शुद्ध भावना, वचन में विनम्रता तथा शरीर से पूर्ण सेवा जब किसी साधु की बनती है तो वह पुण्य का महान् फल प्राप्त करता है।

कोई साधु शरीर से तो सेवा करले मगर वचन मे पूरा सयम न रखे और रोगी साधु को कुछ का कुछ बोलता रहे कि ऐसा नहीं कर रहे हो, वैसा नही कर रहे हो याकि औषधि तो दोष युक्त आई है, लेना हो तो लो और रोगी साधु का दिल दुखाता रहे तो समझिये कि वह साधु होकर भी शास्त्रों के निर्देश के विपरीत चल रहा है। शास्त्रकारो ने स्पष्ट कहा है कि ऐसे प्रसग पर निर्दोष औषधि मिले तो निर्दोष ले ही सकते हैं और दोषयुक्त हो तो उससे सन्तोष नहीं करना है, लेकिन पीडित साधु को डराना सेवा करने वाले साधु के लिये कतई योग्य नहीं है।

सेवा में आग्रह भाव रखने का यह अर्थ है कि साधु दूसरे साधु की सेवा करने मे आगे रहे – विनय भाव से सेवा करने का अवसर मागे और अवसर आवे तब उत्साहपूर्वक दत्तचित होकर सेवा करे। सेवा करने वाला साधु अगर सेवा से दिल चुराता है तो वह उसके लिये योग्य नहीं है। दिल चुराने का मतलब यह है कि अमुक साधु बीमार है या उसको अमुक सेवा की जरूरत है, यह मालूम पड जाने पर भी वह पास मे नही जावे, क्योकि पास मे जाने पर आख की लाज से भी सेवा करनी पडेगी। ऐसी वृत्ति रखने से साधु को दोष लगता है।

शास्त्रकारों ने कहा है कि जिस साधु के कान पर रोगी साधु की आवाज पहुँच जाय और वह यह जान जाय कि रोगी साधु को उसकी सेवा की आवश्यकता है, तब भी वह समीप जाकर नहीं पूछे कि उनको क्या रोग है, कैसी औषधि की तलाश की जाय या किस रूप मे वह उनकी सेवा करे तो वह साधु दोष का भागी बनता है, बल्कि अन्य साधु यदि वैसे साधु को ठीक समझता है कि वह सेवा के झझट से बच गया तो उस अन्य साधु को भी प्रायश्चित आता है। वह प्रायश्चित का दड १२० उपवास का होता है। तो जो साधु जान कर भी सेवा नहीं करे और सेवा से दिल चुरावे, उसके दोष का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है।

तत्परता से की जाने वाली सेवा महान् आभ्यन्तर तपस्या होती है

शास्त्रो मे निर्देश दिया गया है कि एक साधु को दूसरे साधु की सेवा करने के लिये मन, वचन और काया से पूर्ण तत्पर रहना चाहिये। सेव्य की सेवा में अगर कमी रहती है तो वह सेवक के लिये अच्छा नहीं है । वैसा सेवक दोषी कहलाता है।

किन्तु सेवक भी कैसे-कैसे महान् होते हैं और वे अपने सेव्य के प्रति कितनी पवित्र सेवा करते हैं। इसका विवरण शास्त्रों में मिलता है। नदीसेन महाराज की कथा से ऐसा बोध प्राप्त होता है। उन्होने प्रण किया था कि मैं जीवन भर सेवा मे रत रहूगा। वे महान् सन्त थे तथा मनसा वाचा कर्मणा सेवा की भावना के साथ चलते थे। एक बार तपश्चर्या के पारणे के दिन विधि से लाई हुई भिक्षा को ग्रहण करने के लिये बैठे ही थे कि सहसा दरवाजे पर आवाज आई – अरे नदीसेन, सेवाव्रती कहलाता है सो क्या पेट की ही सेवा कर रहा है या साधु की सेवा भी करता है ? एक साधु फला स्थान पर जगल में पडा हुआ भयकर कष्ट पा रहा है, कोई उसे सम्हालने वाला नहीं है। इतना सुनते ही नदीसेन मुनि ने हाथ का नुवाला वापिस पात्र मे रख दिया और उसे ढक दिया। फिर एक पात्र में पानी लेकर वे अपने स्थान से निकल पडे।

वहॉ पहुँच कर नदीसेन मुनि ने निवेदन किया कि वे नगर मे चलें ताकि उनकी औषधि आदि की व्यवस्था हो सके। वह साधु क्या था, आग का बबूला था, तेज होकर बोला – नगर तक चलने की क्या मेरी शक्ति है ? दस्तों और उल्टियो से छटपटा रहा हूँ, मेरे शरीर और कपडों की दशा तुमको क्या दीखती नही है ? नदीसेन मुनि ने शान्त भाव से सारी सफाई की, साधु को अपने कधों पर बिठाया और नगर की तरफ चलने लगे। कधो पर बैठे-बैठे उस साधु ने इतनी दस्तें उल्टियॉ उन पर कर दी कि दुर्गंध के मारे सिर फटने लगा, फिर भी उनकी सेवा भावना मे कहीं ग्लानि की रेखा तक प्रकट नहीं हो रही थी।

नदीसेन मुनि की ऐसी उत्कृष्ट सेवा को देखकर देवता ने अपनी माया तुरन्त समेट ली और मुनि को वन्दन कर निवेदन करने लगा – हे मुनिराज, इन्द्र ने आप की उत्कट सेवा भावना की सराहना की तो वह मुझे सहन नहीं हुई और मैं आपकी कठोर परीक्षा लेने चला आया। लेकिन मैं आपको कोटि-कोटि वन्दन करता हूँ कि आप इतने महान् सेवाव्रती हैं। बिना पारणा किये तत्काल आप पहुँचे और कितने आत्मीय तथा अग्लानि भाव से आपने सेवा की, वह अनुपम है।

याद रखिये कि तत्परता से की जाने वाली सेवा महान् आभ्यन्तर तपस्या होती है। ऐसी उत्कृष्ट सेवा से जिस रूप मे आत्म स्वरूप उज्ज्वलता से निखर उठता है, वैसा निखार अन्य साधना से कम ही आता है। तत्पर सेवा साधना की महिमा अपूर्व होती है जो जीवन को श्रेष्ठतम बना देती है।

तत्पर सेवा का प्राचीन ही नही, आधुनिक उदाहरण भी

आप सोचते होगे कि तत्पर सेवा का ऐसा उदाहरण तो प्राचीन समय का है, लेकिन आज के जमाने की बात भी आपको बता देता हूँ।

स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलालजी म सा के दर्शन तो आप लोगो मे से कइयों ने किये होगे। जब वे दक्षिण में अध्ययन कर रहे थे तब एक सन्त मोतीलाल जी बीमार थे। उनका मस्तिष्क भी विकृत था । उनको दस्ते और उल्टियॉ भी होती थी। आचार्य श्री उस समय छोटे मुनि थे । वे अपने से छोटे सन्तों को भी सम्हालते थे तथा गोचरी लेकर आते। पहले सभी सन्तो को भोजन कराते, वृद्ध सन्तो को भी सन्तोष देते और तब कहीं स्वय भोजन करने बैठते तो मोतीलाल जी म सा को दस्ते व उल्टियॉ होने लग जाती तो उस वक्त वे दूसरे सन्तों से नहीं कहते कि तुमने भोजन कर लिया सो तुम सेवा करो, बल्कि बिना भोजन किये खुद ही उठ जाते और अपने हाथ से उनकी दस्तो व उल्टियों की सफाई करते, उनको कपडे बदलवाते और फिर भोजन करने बैठते।

यह तत्पर सेवा का आधुनिक उदाहरण है। स्वर्गीय आचार्य श्री के जीवन का क्या उल्लेख करू ? वे परम क्षमाशील, सेवाभावी तथा विशिष्ट व्यक्तित्व वाले महापुरुष थे। जब कोई साधु दीक्षा में कुछ बडा होता है और छोटा साधु बीमार हो जाय तो उसकी सेवा करने में तत्परता नहीं बरतता है, लेकिन आचार्य देव की यह स्थिति नहीं थी। यह उनके आचार्य पद के पहले की लेकिन मेरी दीक्षा के एक साल के बाद की बात है कि हम दो तीन छोटे सन्त ज्वरग्रस्त हो गये। बगडी चातुर्मास के बाद जैतारण मे हम बीमार हुए थे। वे रात मे बार-बार उठकर हमको सम्हालते थे। व्याख्यान देते, समाज के कार्यो को सम्हालते, लेकिन छोटो की सेवा करने से भी नहीं चूकते थे। ऐसे महापुरुष विरले ही होते हैं।

तत्पर एव मुक्त भाव से की जाने वाली सेवा के अपार महत्त्व को हृदयगम करना चाहिये और सेवा मे दत्तचित्तता आनी चाहिये। सेवा के इस समग्र स्वरूप को अपने आचरण में उतारेगे तभी भगवान् सभवनाथ की सच्ची सेवा कर सकेंगे।

गृहस्थाश्रम मे भी सेवा को परम धर्म माने

सेवा धर्म को भारतीय सस्कृति मे परम गहन बताया है और उसे योगियो के लिये भी अगम्य कहा है, लेकिन साधु आचार मे नही, गृहस्थाश्रम में भी सेवा को परम धर्म मानकर आप लोगों को चलना चाहिये। बुरा ने माने, आपके माता-पिता भी वृद्ध हो जाते हैं और खाट पर पडे-पडे चिल्लाते रहते हैं, तब आप

लोगो मे से कितने हैं जो उनकी सेवा मे तत्पर रहते हैं ? चार-चार लडके होंगे लेकिन कोई माता-पिता के पास नहीं सोएगा। पैसे वाले हुए तो नौकर की व्यवस्था कर लेगे। पैसे वाले नहीं होगे तो चीखते चिल्लाते रहेंगे। रात्रि में कोई उनको सम्हालेगा नही। कभी प्राण पखेरु उड जाय तो पता भी नहीं चले कि कब उडे ? आज सेवा भावना काफी लुप्त होती जा रही है और ऐसा नहीं होना चाहिये।

स्व आचार्य देव ने सारे साधुओं और साध्वियों को व्यवस्थित बना लिया सो यह वर्ग आज व्यवस्थित है। सब एक ही निष्ठा में चलते हैं – किसी की अपने चेले चेलियॉ नहीं है तो भी चिन्ता की जरूरत नहीं है। निर्देश पाकर बडी-बडी सतियॉ भी सेवा मे पहुँच जावेगी तथा ऐसी सेवा होगी जैसी मा बाप की भी नहीं होती है। बीकानेर मे-कपासन मे ऐसी सेवा हो रही है। ऐसी सुव्यवस्था साधु समाज में सर्वत्र नहीं है, हमारे यहॉ हैं। और ऐसी व्यवस्था है कि भव्य तरीके से सेवा हो सके। लेकिन क्या आपके गृहस्थाश्रम में ऐसी सुव्यवस्था है ? भाई बहिन इस पर चिन्तन करे। जैसी साधु जीवन मे सेवा होती है, वैसी सेवा का परिवार के सम्बन्ध मे भी लक्ष्य रखें। गृहस्थाश्रम में जेसी सेवा की शिक्षा लेगे और देंगे, उसी के अनुसार आगे जीवन बनेगा।

ऐसी तत्पर सेवा करने वाले गृहस्थ भी होते हैं। मैंने सुना है कि भीखमचद जी भसाली और चेतनबाई दोनों पति पत्नि ने अपने वृद्ध माता-पिता की खूब सेवा की। स्वय सेवा करना तथा प्रत्येक समय सेवा के लिय तत्पर रहना सहज कार्य नहीं है।

सेवा की सदा सर्वत्र अहर्निश साधना

भारतीय सस्कृति का सन्देश है कि मातृदेवो भव, पितृदेवो भव आदि। माता-पिता एव गुरुजन की सेवा को बडा महत्त्व दिया गया है, बल्कि कहा गया है कि यथाशक्ति सेवा की सदा सर्वत्र अहर्निश साधना करते रहना चाहिये। सेवा धर्म को इतना गहन बताया गया है कि योग साधना सहज है, लेकिन सेवा साधना कठिन है।

साधु अपने साधु आचार की मर्यादाओं के अनुसार सेवा के लिये तत्पर रहे तो गृहस्थ अपने कर्त्तव्यो का भान रखते हुए अपने वृद्ध एव रोगी माता, पिता व वृद्ध जनो की हार्दिक सेवा करे। सेवा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। सेवा की सीमा ससार के सारे प्राणियो तक पहुँचती है। सबकी सेवा सम्पूर्ण भाव से की जा सके तभी भगवान् सम्भवनाथ की सेवा हो सकेगी।

नोखा

३० ९ ७६

14

भय कल्पना में, वास्तव में नहीं

समव देव ते धुर
सेवो सवे रे

समवनाथ भगवान् की सेवा करने की दृष्टि से कवि ने भव्य जनों को सकेत दिया है कि सेवा करने से पहले सेवा की भूमिका को समझ ले। मनुष्य सेवा करने के लिये किसी बाह्य साधन सामग्री की अपेक्षा रखता है और सोचता है कि वह सामग्री मुझे उपलब्ध हो जाय तो मैं सेवा करू। बाह्य सामग्री सेवा के कार्य में प्रयुक्त की जा सकती है, लेकिन उसका प्रयोग भी तभी होता है, जब किसी की सेवा करने की भीतरी तैयारी होती है।

मनुष्य का अन्तर्हृदय जब तक सेवा के लिये सन्नद्ध नही बनता, तब तक सेवा के क्षेत्र मे वास्तविकता लेकर प्रवेश नहीं कर सकता है। इसलिये पहला कार्य यही बताया गया है कि हृदय को – मन को सेवा के लिये तत्पर बनावें। मन सेवा के लिये तत्पर कैसे बन सकेगा ?

सेवा की पहली भूमिका गुणशीलता का धरातल

मन सेवा के लिये तब तत्पर बन सकेगा, जब वह अपनी भूमिका पर खडा होगा। वह भूमिका है गुणशीलता की भूमिका। कवि ने इस भूमिका का इस प्रार्थना की पक्तियो मे उल्लेख किया है –

सेवन कारण पहली भूमिका रे
अभय, अद्वेष अखेद।
सभव देव ते धुर सेवो सवे रे

लही प्रभु सेवन भेद।।

वह सेवा की पहली भूमिका क्या है ? उसका उत्तर दते हुए कवि ने स्पष्ट किया कि वह पहली भूमिका तीन गुणो से युक्त है। तीन गुण हैं – अभय अर्थात् निर्भयता, अद्वेष अर्थात् निर्विकारता एव अखेद अर्थात् आनन्दमयता। प्रभु की सेवा के इस भेद को जो जान जाता है कि प्रभु की सेवा के लिये मन को निर्भय, निर्विकारी तथा आनन्दमय बना लेना चाहिये तो फिर प्रभु की सेवा वैसा मन परम उत्साह के साथ करता रहता है।

अभय एक अवस्था होती है। आत्मा जिस समय अभय के भाव मे रमण करती है – अभय के स्वरूप को पहिचान करके अपने जीवन मे उसको साकार रूप देती है तो वह सेवा की पहली भूमिका के एक हिस्से को सम्पादित कर लेती है। अभय का तात्पर्य है कि भयभीत नहीं होना – निर्भय बनना। मनुष्य किसी से डरे नही। जो मनुष्य डर को जीत लेता है, वह अभय याने भयरहित बन जाता है। लेकिन जो व्यक्ति जिस किसी से भी डरने लगता है, उसको वही भय अधिक से अधिक सताता रहता है।

महावीर प्रभु ने अपनी देशना मे इस महान् सत्य का उद्घाटन किया है कि हे भव्यों, तुम भय मत करो, जो व्यक्ति भय से भीत बनता है – डरता है, उस व्यक्ति को भय जल्दी ही पकडने की कोशिश करता है। भय उसके मन को दबोच लेता है और वह फिर भय से बच नहीं पाता है। भगवान् की सेवा भय के साथ नहीं की जा सकती है। भगवान् और भय दोनों एक साथ नहीं रहते। भय छूटता है तभी अभय मन को भगवान् मिलते हैं और भय की अवस्था से जब तक मनुष्य का मन नहीं निकल पाता है वैसा मन भगवान् के सामीप्य मे गति नहीं कर सकता है। एक निर्भय मन ही प्रभु की सेवा कर सकता है याने कि पीडित आत्माओं की सच्ची सेवा कर सकता है।

भाति भाति के भय,
किन्तु कल्पना मे ही अधिक

भय के प्रकारों की कोई गिनती नहीं की जा सकती है। जिस दृश्य को देखकर अथवा जिस विचार को मन में लेकर कोई मनुष्य भयभीत बन गया तो उसके लिये वही दृश्य अथवा विचार भय का कारण बन गया। इस तरह भाति-भाति के भय होते हैं और मुख्य बात यह है कि भय अधिकाश रूप से कल्पना मे अधिक होते हैं सो उसके प्रकारों का भयकर विस्तार हो जाता है। कल्पना की गति तो वास्तविकता से कई गुनी तेज होती है। डर सोचने मे ही ज्यादा होता है, हकीकत में नहीं। अगर कोई डर हकीकत मे है भी, लेकिन मन

अभय है तो वह हकीकत का डर भी बेकार हो जाता है। एक डरपोक मन ही हर तरह की कल्पना से डरता रहता है।

मनुष्य के मन मे कई तरह के भय बैठे हुए रहते हैं। इस लोक का भय, परलोक का भय, जीवन का भय, भूत प्रेत का भय और इस तरह गिनती करते जाय लेकिन भय के प्रकार जल्दी समाप्त नहीं होंगे। भाति-भाति के भय जब मनुष्य के मन-मस्तिष्क मे समाये हुए रहते हैं तो वह किसी भी कार्य को गौरव के साथ सफल नही बना सकता है।

मुख्य रूप से तो मनुष्य काल्पनिक भयो से ही अधिक भीत रहता है। उसकी कल्पना में ही तरह-तरह के भय खडे होते हैं और वह उनसे डरता रहता है। काल्पनिक भय आधारहीन होते हैं बल्कि अस्तित्त्वहीन होते हैं, लेकिन चूकि मन की कल्पना उनको पकड लेती है तो मन ही मन उनके विविध रूपो को बना कर वह कल्पना मनुष्य को भयभीत बनाती रहती है। मानसिक कल्पना जितनी भयभ्रान्त बनती है, उतना बाहर का भय भीतिकारक नहीं होता है। जिसके मन में बाल्यकाल से ही भय के सस्कार जम जाते हैं, वह व्यक्ति आयु-वृद्ध हो जाने पर भी भय से मुक्त नहीं हो पाता है। अधेरी रात्रि में यदि वह किसी कपडे को हिलते हुए दूर से भी देख ले तो उसकी डिक्की बध जाती है, वह कापने लगता है और उस काल्पनिक भय से इतना डर जाता है कि मुह से बोल भी नहीं फूटता है। वह समझ लेता है कि कोई भूत हिलडुल रहा है। उस कपडे में तो भूत होता नहीं है, लेकिन उसकी ही कल्पना का भूत उसको डराता रहता है। यह कल्पना का भूत कभी-कभी माताएँ अपने अज्ञान के सस्कारो के कारण बच्चों के मस्तिष्क मे डाल देती है तो वह फिर सारी जिन्दगी तक बना रह जाता है।

बाल्यकाल के सस्कार
कल्पना मे भय का विस्तार

बच्चा स्वाभाविक रूप से चचल होता है और नटखट भी होता है। इस चचलता को उस बच्चे का दूषण नहीं मानना चाहिये बल्कि उसे उस बच्चे के गुण की स्थिति का द्योतन समझना चाहिये। बचपन मे बच्चे में जो चचलता दिखाई देती है, वह इस बात की लक्षण होती है कि बच्चा आगे जाकर बुद्धिशाली और कार्यनिष्ठ निकलेगा। इस तथ्य को वे ही माताएँ समझ सकती है जो पढी-लिखी हो तथा मनोविज्ञान की बारीकियो को समझती हों।

सामान्य रूप से बच्चा जब चचलता करता है या कुछ नटखटपन दिखाता हैं तो माताएँ समझती है कि वह बच्चा अपनी शैतानी से उनके घरेलू कार्य में बाधा डाल रहा है और उसको तग कर रहा है। यह सोचकर माताएँ उसके मन

मे तरह-तरह के काल्पनिक डर बिठाना शुरू करती है, जिससे कि बच्चा भयभीत बन कर बार-बार उसको तग न करे। बच्चे का माता पर पूरा विश्वास होता है बल्कि किसी भी अन्य सम्बन्धी से अधिक विश्वास होता है तो वह बच्चा माता के काल्पनिक डर को वास्तविक मान लेता है और भय के सस्कार उसके मस्तिष्क में जमते जाते हैं। फिर किसी की परछाई इधर-उधर हिलती डुलती दिखाई देती है तो वह उसे भूत मान बैठता है और डर के मारे कापने लगता है। बच्चे के दिल में से भय के सस्कारो को बाद में निकालना बडा ही कठिन हो जाता है। कोई चतुर व्यक्ति ही काफी श्रम के साथ ऐसा कर सकता है।

बाल्यकाल में जो भी सस्कार पडते हैं, वे पूरी मजबूती से जमते हैं और वे सस्कार उसके बडे हो जाने के बाद भी उसको कल्पना ही कल्पना में भय का विस्तार कराते हैं। भूत, प्रेत या किसी काल्पनिक धारण से उसका मन-मस्तिष्क विश्वास के साथ इस प्रकार जकड जाता है कि कहीं जरा सा गहरा अधेरा फैला कि उसकी छाती धुक्-धुक् करने लग जाती है। किसी अधेरे कमरे से जानी पहिचानी चीज लाने में भी वह कांप उठता है।

माताएँ थोडी सी अपनी सुविधा के लिये नादानी में बच्चो पर इस तरह के गलत सस्कार डाल देती है, लेकिन पिता लोग भी ध्यान रखें तो तुरत फुरत उन सस्कारो को हटा सकते हैं। पिता कह सकते हैं कि माता ने भूत बताया है तो उस भूत को वश में करने का मत्र मेरे पास है और वे अपने विश्वास से उस डर को भगा सकते हैं। लेकिन माता और पिता दोनों एक से स्वभाव के मिल जाते हैं तो फिर बालक के सस्कारों का कहना ही क्या ? वास्तव में इस स्थिति को गहराई से समझने की जरूरत है ताकि अब भी ख्याल रख कर बच्चो को व्यर्थ में भयभीत करने की आदत छोड दी जावे। बच्चो को शुरू से निडर बनावें तो आगे जाकर वे साहसी और कर्मनिष्ठ बन सकेगे।

वास्तविक भय से भी काल्पनिक भय भयकर होता है

वास्तविक भय का कोई कारण सामने आवे तो उससे शायद कमजोर से कमजोर प्राणी में भी भय की वृत्ति छूट जाती है और उस भय का मुकाबिला करने की हिम्मत जाग जाती है। किसी बछडे को कोई शेर पकड ले तो गाय मे भी इतनी हिम्मत मातृत्त्व भाव के कारण आ जाती है कि वह शेर से भिडने लग जाती है। वास्तविक भय का कारण सामने प्रत्यक्ष होता है, इसलिये उसका विरोध करने का निर्णय लेने मे आसानी रहती है। लेकिन काल्पनिक भय का अस्तित्त्व तो होता नही और छोटे-छोटे से दृश्यों से कुछ की कुछ कल्पना बाध कर भय भीति भडक

जाती है। इसलिये उस अवस्था मे भय ही भय होता है – भय का कारण स्पष्ट नहीं होता। मूल में देखे तो साहस का अभाव होता है – विश्वास की कमी होती है और सच कहे तो मन में जो डर बैठा हुआ है – जो भय के सस्कार जड जमाए हुए हैं, वे ही जैसे बाहर के काल्पनिक दृश्यों की उपस्थिति मानकर भय से थरथराते रहते हैं। वस्तुत वह भय मन की एक अवस्था के सिवाय और अधिक कुछ नहीं होता है।

स्व आचार्य देव कभी-कभी अपना अनुभव बताते हुए फरमाते थे कि वे एक बार फलौदी (मारवाड) की तरफ जा रहे थे। एक स्थान पर रास्ता भूल गये और गाव दूर रह गया। इस बीच सूर्यास्त हो गया। सन्त जीवन की मर्यादा है कि सूर्य अस्त हो जाय तो वे किसी वृक्ष के नीचे ही रात्रि बिता दे लेकिन आगे अधेरे में नहीं बढें। चार सत थे, उन्होने वृक्ष के नीचे ही रात्रि बिताने का निश्चय कर बिछौने लगा दिये। प्रतिक्रमण, ज्ञान चर्चा से निवृत्त होकर चारो चद्दरे ओढ कर सो गये। सन्तों के वस्त्र सफेद होते ही हैं। अगले गाव का एक भाई पानी भरने की दृष्टि से रात्रि मे दो बजे गाडी लेकर कुए की ओर जा रहा था। रास्ता सयोगवश उस वृक्ष के पास होकर जाता था। वह चादनी रात थी। दूर से ही उस भाई की दृष्टि वृक्ष के नीचे पडी तो वह समझ गया कि सफेद चद्दरे ओढे हुए इस सुनसान स्थान मे सोने वाले भूत के अलावा और कौन हो सकते हैं ? बस यह उसकी कल्पना बन गई और उसके मुह से चीख निकल गई। आचार्य श्री की नींद खुल गई, उन्होने सोचा कि उस भाई को आश्वस्त कर दू। उनके उठने के उपक्रम मे चद्दर हिली, तब तो वह भाई बुरी तरह डर कर भाग खडा हुआ। गाव मे उसने बात की होगी, मगर रात को तो कोई आया नहीं। दिन निकलने पर चार पाच लोग आये और सन्तों को देखकर पास आये तथा लोगों ने सारी बात बताई।

ऐसा होता है भय का भूत ! क्या कभी आपने सोचा है कि भय का भूत कहाँ से आता है ? विदेशो में जहाँ भय के सस्कार इस तरह के नहीं होते, वहाँ के बच्चे श्मसान या कब्रिस्तान मे भी रात को बेडर होकर चले जाते हैं। यह भय का भूत खोखले दिमाग और विश्वासहीन मन की उपज होती है। इसी कारण वास्तविक भय से काल्पनिक भय अधिक भयकर होता है।

भय डरने वाले को ही सताता है
बेडर को नही !

भय की मानसिक वृत्ति मनुष्य को अपने सारे जीवन मे पुरुषार्थहीन बना देती है। भय ऐसा घातक तत्त्व होता है कि इसके चगुल मे फस जाने पर जीवन दिन-प्रतिदिन नष्ट होता रहता है। इसे हकीकत मानिये कि भय डरने वाले को

ही ज्यादा सताता है – बेडर पर उसका कोई असर नहीं पडता। कई भूतिया हवेलियाँ होती हैं जिनके लिये यह प्रचलित हो जाता है कि उसमें भूत रहते हैं, फिर उसमें कोई अपना निवास करने की हिम्मत नही करता है। यह सब भय की मानसिक वृत्ति का ही असर होता है।

शास्त्रीय दृष्टिकोण पर इस दृष्टि से यदि विश्वास हो तो ध्यान रखें कि चार प्रकार के देव बताये गये हैं – भुवनपति, वैमानिक, ज्योतिष और व्यतर। भुवनपति देव तो कभी मर्त्य लोक की तरफ आते ही नहीं हैं। अक्सर करके वैमानिक और ज्योतिष भी इधर विचरण नही करते। जो कुछ आप भूत, पिशाच मानते हैं, वे व्यतर जाति के देव हो सकते हैं। वे कौतुकी भी होते हैं, लेकिन जगह-जगह जो भय के केन्द्र मान लिये हैं, उनमें सच्चाई मुश्किल से ही कहीं पर हो। इन देवो के लिये भी समझले कि ये भी डरने वालो को ही डराते हैं – अभय व्यक्ति को नहीं डरा सकते हैं। साहसी मनुष्य के मनोबल के सामने कोई व्यतर बल या भूत बल भी टिक नहीं सकता है। लेकिन जो व्यक्ति पहले ही डर जाता है तो उसे भूत क्या, कोई भी ज्यादा ही डराने की कोशिश करेगा। एक छोटे बच्चे से भी जो बडा आदमी डर जाता है तो उस बच्चे का भी डराने का हौंसला बढ जाता है।

यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मन जब कमजोर हो जाता है तो उसकी हिम्मत भी टूट जाती है और शारीरिक ताकत भी बेजान सी बन जाती है। वह भय ही माथे पर सवार हो जाता है। भयभीत हो जाने की दशा मे प्रतिरोध करने का साहस भी निकल जाता है। भयग्रस्तता यह मन की अस्थिरता होती है। मन यदि स्थिर हो, फिर कैसा भी भय चाहे कल्पना में और चाहे वास्तविकता मे उस व्यक्ति के सामने आ जावे तो उसका मन भय के सामने डट कर खडा हो जायगा। वह कल्पना की भी असलियत का पता लगाने की कोशिश करेगा और वास्तविक खतरा होगा तो उसका सामना करने के लिये खडा हो जायेगा। इसलिये समझ लें कि भय की मनःस्थिति मन की ही स्थिरता अथवा अस्थिरता के अनुसार सामान्य, विशेष या अस्तित्वहीन बनती है। इस विचार से मन की गतिविधि पर ही नियत्रण किया जाना चाहिये कि वह विश्वास और साहस से सयुक्त बने।

अभय वृत्ति जीवन को चट्टान जैसा सुदृढ बना देती है

एक डडा किसी कागज के डिब्बे पर पीटा जाय तो वह डिब्बा टूट जायगा, लेकिन उसी डडे को कोई फौलाद की छड पर पीटे तो वह डडा ही टूट जायगा।

डर को डडा मान ले जो कागजी आदमियो के दिल को तोडता है, वरना फौलादी तबियत के आदमी तो उस डर के ही टुकडे-टुकडे कर डालते हैं। डर ऐसे फौलादी आदमियो से कोसो दूर रहता है। अभय वृत्ति से मन जब मजबूत बन जाता है तो वह वृत्ति जीवन को चट्टान जैसा सुदृढ बना देती है।

कई प्रकार की चमत्कारपूर्ण बाते कही जाती हैं या कि निहित स्वार्थ के कारण बनाई जाती हैं और उनसे भी कई लोगों के मन में भय बैठ जाता है। परन्तु निर्भय व्यक्ति भय के सारे कारणो को छिन्न-भिन्न करके रख देता है। अग्रेजों के समय की बात है कि कलकत्ता के पास एक अग्रेज ने अपनी बहुत बडी कोठी बनाई। उसकी और उसकी पत्नि की मृत्यु उसी कोठी में हुई। उसके बाद शायद वे दोनों व्यक्ति व्यतर जाति में उत्पन्न हो गये और कोठी के प्रति आकर्षण रह जाने से वे वहीं रहने लगे। कोठी में जब कई चमत्कारी घटनाएँ गुजरने लगी तो सरकार ने उस कोठी को अपने कब्जे मे ले ली और पहरेदारो की नियुक्ति कर दी।

एक बार एक निर्भय वृत्ति वाला भारतीय रात पडने पर उधर से निकला तो उसने सोचा कि रात भर विश्राम यहीं क्यो न कर लिया जाय ? वह पहरेदार के पास आया और कोठी में रात भर विश्राम करने की इजाजत मागने लगा। पहरेदार ने कहा – यह भूत कोठी है और इसमे जो भी रात भर रह जाता है, वह सुबह मुर्दा ही बाहर निकलता है। उसने कहा – मेरे मन मे कोई डर नहीं है। तुम मुझे रात भर के लिये यहाँ ठहरा सकते हो तो ठहरा दो। पहरेदार से इजाजत लेकर वह कोठी के भीतर चला गया। उसने सभी कमरो के तालो की ठीक तरह से जाच कर ली कि वे मजबूती से लगे हुए हैं। फिर एक कमरे में स्वय बैठ गया, बिजली की रोशनी लगा दी और कमरा भी खुला छोड दिया। बैठा यह देखने के लिये कि क्या होता है ? अचानक रात के बारह बजते ही रौशनी गुल हो गई और बन्द कमरों के दरवाजें धडाधड खुलने लगे। ऐसा लगा जैसे किसी के पावो की आहट आ रही हो। देखे तो कुछ नहीं दिखाई देता। यह तूफान चलता रहा। फिर उसे एक पुरुष और एक स्त्री आते हुए दिखाई दी। उसने हिम्मत करके पूछ लिया कि आप यो डरा कर कोठी को क्यों बेकार बनाए हुए हैं ? कहते हैं कि उन्होने अपनी स्थिति साफ प्रकट की कि हम देव न किसी को मारते हैं, न डराते हैं। मोहदशा रह जाने के कारण आ जाते हैं। उन्होंने कह दिया कि एक अमुक कमरा हमारे लिये छोड दो, बाकी सारी कोठी में निर्भय होकर कोई रहो, हम कोई तूफान नहीं करेगे। यह सत्य घटना बताई जाती है।

निर्भय वृत्ति वाले व्यक्ति किसी चमत्कार से भी डरते नहीं है और देवो से भी टक्कर लेते हैं। उन को भूत पिशाच कोई भी भयभीत नहीं बना सकते हैं। मैं आपको भूत पिशाच की पहिचान बता देता हूँ। जहाँ यह बताया जाय कि अमुक व्यक्ति के पिड में भूत आया हुआ तो उससे दूर अपनी मुठ्ठी मे कोई चीज दबा

लें और मुठ्ठी की चीज बताने के लिये उसको पूछें। चीज का नाम बात दे तो ठीक वरना वह नकली होगा। वैसे अभय वृत्ति रखे तो असली भी आपकी हिम्मत के आगे गायब हो जायगा। साहसी जीवन के निर्माण के लिये भय को मन से निकाल दे और निर्भय वृत्ति का विकास करें।

विचारो मे, वाणी मे और व्यवहार मे अभयवृत्ति जाग उठे

शास्त्रकार कहते हैं कि 'न भय चित्त कुर्वया' अर्थात् चित्त में किसी प्रकार का भय नही रखे क्योंकि भय से जो भीत होता है, भय उसी को अधिक सताता है। भयमुक्त स्थिति पहले विचारों में बननी चाहिये ताकि काल्पनिक भय जीवन मे अस्त व्यस्तता न ला सके और मनोदशा को ऐसी मजबूत बना सके कि वास्तविक भय या खतरे से भी टक्कर लेने का साहस बन जाय। मन मे ऐसी स्थिरता आ जायगी तो उस व्यक्ति की वाणी में से भी भय का प्रभाव निकल जायगा। विचार और वाणी से साहस को सजोने वाले व्यक्ति का व्यवहार भी ऐसा अभय हो जायगा कि उसकी अभय वृत्ति दूसरे लोगों को भयमुक्त बनाने लगेगी।

आप भी भयमुक्त होकर अपने विचार, वाणी तथा व्यवहार में अभय वृत्ति को जागृत बनाइये और जब यह जागृत सुदृढ बनेगी तो ससार के भय से भी मुक्त हो सकेंगे।

नोखा
१ १० ७६

15

संयम की स्थिति में शंकाशील न रहें

सभव देव ते धुर
सेवो सवे रे

परमात्मा के स्वरूप को पाने के लिये उसके अनुरूप साधनों को ही अपनाना तथा साधना की भूमिका को भव्य बनाना – यह शुभ मगलाचरण की प्रस्तुति है।

कवि ने सभवदेव की प्रार्थना के प्रसग से भव्य आत्माओं को जागृत बनाने हेतु अभय की स्थिति को सबसे पहला साधना बताया – भय की बाधा को हटाने का निर्देश दिया। पाच इन्द्रियों के विषयो में लिप्त रहने वाले साधक को भी कवि ने सकेत दिया है कि वैसी लिप्तता के साथ वह अपनी साधना में स्थिर नहीं रह सकेगा तथा एक न एक दिन उससे विचलित हो सकता है। कारण, विषय की तृष्णा जिस आत्मा में गहरा स्थान पा लेती है, वह आत्मा पग-पग पर फिसलती है।

"पाय पाय विसमति पग्गे" अर्थात् भय, द्वेष और खेद की अवस्था में पडकर तेरा पग पग पर स्खलन होगा और सयम की स्थिति में शकाशील रहकर तू एक रोज सयम से गिर जायगा। सयम की स्थिति मे शकाशील रहना इस दृष्टि से अत्यन्त घातक सिद्ध होता है। सयम की स्थिति में वही साधक शकाशील बना रहता है जिसका मन पूरी तरह से सासारिक विषयों मे रमण करने से निवृत्त नही हुआ है। किसी भी कारण से सयम तो ग्रहण कर लिया, लेकिन मन बार बार पीछे की ओर दौडता है तथा तृष्णापूर्ण लालसाओं मे व्यामोहित बनता है। ऐसी अवस्था मे वह साधक अपने वर्तमान सयम के प्रति नाना प्रकार की शकाएँ उठाता रहता है और मन मे अपने स्वीकृत मार्ग के प्रति निश्चिन्त नही बन पाता है। सयम की की स्थिति में उसकी इस प्रकार की शकाशीलता उसके विकास के मार्ग को अवरूद्ध बना देती है।

संयमी जीवन के प्रति शकाएँ उभारने वाले खतरे

कभी-कभी कई लोग सयमी जीवन के महत्त्व को ठीक तरह से नहीं पहिचानने के कारण कह देते हैं कि ससार से भय खाकर ही लोग साधु बनते हैं। लेकिन ज्ञानीजन कहते हैं कि ससार के भय को जीतने के लिये साधु बनते हैं। भय की स्थिति को समाप्त किये बिना सयम की साधना नहीं होती है।

सूयगडाग सूत्र में स्पष्ट उद्बोधन दिया गया है कि भयभीत व्यक्ति तप तथा सयम को भी छोड देता है एव भयभीत व्यक्ति अपने सयम के लिये हुए भार का वहन नहीं कर सकता है। यह भय की विभीषिका हकीकत में सयमी जीवन को गिराने मे सहायक बनती है। इसीलिये शास्त्रकारो ने सयमी जीवन के साधको के लिये चौबीस घटों में दो वक्त प्रतिक्रमण करने का निर्देश दिया है। प्रतिक्रमण क्या है और क्यो करना चाहिये ? प्रतिक्रमण एक प्रकार से अपने ग्रहण किये हुए व्रतो में लगने वाले दोषो को निवारण करने की विधि है। सयमी आत्मा ने जिन व्रतो को अगीकार किया है, वे गुण आत्मा के गुण हैं, उनसे निकल कर आत्मा किसी ओर प्रसग में चली गई हो तो उसे वहॉ से पुन लौटा कर पुन आत्मीय गुणो मे स्थिर करना प्रतिक्रमण है। श्रावकों के लिये भी कालोकाल प्रतिक्रमण का नियम है तो सयमी जीवन के साधक को दिन रात मे दो वक्त अवश्य प्रतिक्रमण कर लेना चाहिये।

दिन भर की दिनचर्या मे सावधानी रखते हुए भी यदि उसमे कहीं दोष का प्रवेश हो गया हो अर्थात् साधु की आत्मा साधुपन से निकल करके किसी अन्य दिशा मे चली गई हो तो उसको वापिस मोडकर उसे पुन सयमी जीवन में स्थिर करना – यह प्रतिक्रमण की स्थिति का प्रसग है। इस सयमी जीवन के विविध नियम हैं – एक-एक व्रत को लेकर 'मिच्छामि दुक्कडम्' दिया है तथा एक-एक दोष को शमन करने का सकेत किया है। जहॉ तैंतीस बोल का प्रसग आता है, वहॉ असयम से जो विकृति आ गई हो, उसको प्रतिक्रमण के माध्यम से प्रक्षालित कर पुन सयम में स्थिर होने का प्रयास करना है।

यह शास्त्रीय विषय आपसे भी सबधित है। भय आप भी खाते हैं और सन्त भी भयभीत हो सकते हैं। सत भयभीत हो जाते हैं तो प्रतिक्रमण करते हैं और सोचते हैं कि मेरी आत्मा आत्मिक स्वरूप को छोडकर भय मे चली गई हो तो प्रतिक्रमण करने पर पुन भय को छोडकर अपने स्वरूप मे स्थित हो जावे।

सयमी जीवन के प्रति शकाएँ उभारने वाले खतरो में भय का खतरा बहुत बडा खतरा होता है। प्रतिक्रमण में सतों के लिये सात प्रकार के भय बताये हैं। सन्त यदि भय के विचार मन मे लाते हैं तो अपने तप-सयम से दूर जाते हैं।

इसलिये यह खतरा सयम के लिये बाधक और अहितकर है। यह खतरा उसे तप की पहली भूमिका के योग्य भी नहीं बनने देता है। भय उसको सयम की पहली कक्षा मे भी प्रविष्ठ नहीं होने देता। यदि सयम मे ही प्रवेश नहीं हो सकेगा तो कैसे समवनाथ प्रभु की सेवा कर सकेगे, कैसे सेवा के भेद को समझ सकेगे तथा कैसे सेवा की सुदृढ भूमिका पर खडे हो सकेंगे ?

सयम के ये खतरे ऐसे हैं कि जिनके प्रति यथासमय निवारण की सतत सावधानी नहीं रहे तो सयमी जीवन के प्रति ही नाना प्रकार की शकाएँ उभर कर मन को चारो ओर से घेर लेती है। ये शकाएँ धीरे-धीरे बढती रहे तो आत्मा में सयम की श्रेष्ठता के प्रति ही सन्देह होने लगता है और जैसा कि शास्त्रकारो ने कहा है कि पग-पग पर स्खलित होते हुए वैसा साधक एक दिन सयम की भूमिका से पतित हो जाता है। अत सयमी जीवन के प्रति शकाओ को उभरने के साथ ही स्पष्ट कर लेनी चाहिए ताकि सयम मे नि शक अभिरुचि बनी रहे।

ससार के भय को जीतने के लिये साधुत्त्व ग्रहण किया जाता है

साधुत्त्व तमी ग्रहण किया जाता है, जब कोई ससार के भय को जीतने की आकाक्षा से अग्रसर होता है। भय से भीत होने वाला साधु नहीं बनता। साधु बनता है सभी प्रकार के भयो से मुक्त होने के लिये तथा भयमुक्ति का सबको मार्गदर्शन देने के लिये। साधु स्वय अभय बनता है और ससार को अभय बनने का सन्देश देता है।

शास्त्रो मे साधना करने वाले साधुओ के लिये बारह भिक्षु पडिमाओ का निर्देश दिया गया है। इनमे से जब बारहवीं भिक्षु पडिमा की साधना की जाती है, तब साधक भयकर अधेरी रात्रि में श्मशान में जाता है – बडी डरावनी स्थिति होती है उस वक्त। वह तब अकेला जाता है, दूसरा कोई उसके साथ नहीं जाता। वहा जाकर रात्रि पर्यन्त अटल ध्यान करना होता है। वह एक प्रकार का कठिन परीक्षा काल होता है।

आपको वैसी रात्रि में श्मशान मे केवल दो मिनिट के लिये ही कोई जाने को कहे तो क्या आप जा सकेंगे ? मारवाड का एक रुपक सुनने को मिला कि एक शर्त बद कर कोई श्मशान मे चला गया तो उसका कैसा बुरा हाल हुआ ? ग्रामीणो मे चर्चा चल रही थी कि आधी रात को कोई श्मशान जाकर बताई हुई जगह पर खूटी ठोक आवे तो उसको पाच डोले पाला (पाच टोकरी पत्तियो का चारा) दिया जावेगा। एक ग्रामीण ने हिम्मत की कि इसमे क्या है ? वह जा आवेगा। वह शर्त बद कर वहॉ से चल तो पडा, मगर ज्यो-ज्यों श्मशान के पास

पहुँचने लगा, उसके मन मे भय समता चला गया। वह डरने लगा कि कहीं भूत जाग न जाये। वह भय से ग्रस्त होकर बडी तेज चाल से जा रहा था। उसने रेजे की मोटी धोती पहिन रखी थी। जल्दी-जल्दी श्मशान पहुच कर उसने पत्थर से निर्धारित जगह पर खूटी ठोक दी। डर के मारे ध्यान नहीं रहा और खूटी के बीच उसकी धोती आ गई। दिमाग में भय बुरी तरह सता रहा था सो उसने सोचा कि खूटी ठोकते ही वह जल्दी वापिस भाग जावे। भागने के लिये ज्यो ही वह उठा कि धोती फसी हुई होने के कारण धडाम से वापिस गिर पडा।

अब तो उसकी धडकन बन्द सी होने लगी। उसको भरोसा हो गया कि भूत ने उसको पकड लिया है, अब वह जिन्दा नहीं बचेगा। भय का वेग इतना बढा कि उसके प्राण पखेरू वहीं उड गये। आप समझ गये कि उसको किस भूत ने मारा ? ऐसे श्मशान के भयावने वातावरण मे बारहवीं भिक्षु पडिमा साधने के लिये साधक वहॉ जाता है। इस का अभिप्राय यही है कि ससार के सारे भयों पर साधु विजय प्राप्त कर ले।

नि शक साधक
शीघ्र मोक्षगामी होता है ।

आपने अन्तगडसूत्र में सुना होगा कि गजसुखमाल मुनि ने भगवान् अरिष्ठनेमि से पूछा – भगवन्, शीघ्र मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? उन्होने कहा – तुम श्मशान मे जाकर रात्रि भर नि शक ध्यान धर लोगे तथा उसमे स्थिर रहकर किसी प्रकार भयग्रस्त नहीं बनोगे तो तुम्हें शीघ्र मोक्ष प्राप्त हो जायेगा। गजसुखमाल मुनि ने सुबह ही दीक्षा ग्रहण की थी तो शाम को ही बारहवी भिक्षु पडिमा की साध ना करने के लिये भगवान् की आज्ञा से श्मशान के लिये रवाना हो गये। वे राजकुमार होकर कितने सुकोमल थे और कितनी वीरता के साथ इस तरह की निर्भय साधना के लिये तैयार हो गये ? ऐसी निर्भयता वही साधक दिखा सकता है जो सयम की स्थिति मे किसी भी रूप से शकाशील न रहे। थोडी सी भी शका या भय मुनि गजसुखमाल के मन में होता तो भगवान् उन्हें आज्ञा नहीं देते। उन्हे उनकी अपूर्व निर्भय वृत्ति का ज्ञान था।

भिक्षु पडिमा में साधना की उच्चतर श्रेणियों का विचार करते हुए यह प्रावधान है कि इसे साधने की उसी साधु को आज्ञा दी जाय जिसकी आयु कम से कम २९ वर्ष की हो तथा जो २० वर्ष पहले दीक्षित हुआ हो। कोई बीस वर्ष तक लगातार साधुवृत्ति का पालन करे और सातो प्रकार के भयो से मुक्त बने याने की अपनी साधना मे खरा उतरे तब उसको भिक्षु पडिमा (बारहवीं) को साधने की आज्ञा दी जा सकती है। लेकिन एक दिन के दीक्षित मुनि गजसुखमाल को

भगवान् ने जो अपने विशिष्ट ज्ञान मे देखकर इसकी आज्ञा दी, वह अपवाद स्वरूप आज्ञा थी।

शास्त्रकारो ने कहा कि श्मशान की भयावह स्थिति में नाना प्रकार के भय होते है। वहॉ मनुष्य सबधी उपद्रव होते हैं, पशु पक्षी सबधी उपद्रव होते हैं, देवी देवता सबधी उपद्रव होते हैं तो चारो ओर भीषण दृश्य दिखाई देते हैं। ऐसे भयजनक वातावरण मे वह आत्मा तनिक भी भयग्रस्त नहीं होती तथा अपनी अभय वृत्ति से जरा भी विचलित नही बनती है। सयम मे पूर्णतया नि शक तथा सुस्थिर रहते हुए वह साधक उस श्मशान में अपनी एक रात्रि की निर्भीक साधना से तीन विशिष्ट ज्ञानों की उपलब्धि करता है। वे तीन ज्ञान होते हैं – अवधि-ज्ञान, मन पर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान।

इसके विपरीत यदि वह अपने मन मे सयम की स्थिति के प्रति थोडा सा भी शकाशील हो जाता है तथा अभय वृत्ति से विचलित बन जाता है तो वह पागल हो जाता है – भ्रष्ट हो जाता है।

नि शक साधक ही शीघ्र मोक्षगामी होता है क्योंकि भय की सम्पूर्ण निवृत्ति के साथ ही पूर्ण परिपक्वता आती है। साधक वर्ग के मेरे भाई जितनी दूसरी बातो का ख्याल रखते हैं, शायद ही उतना भय मुक्ति का ख्याल नही रखते होगे। प्रतिक्रमण करते समय उच्चारण जरूर कर लेते हैं लेकिन उसके अर्थ का वे कितना अनुसधान करते हैं – यह वे ही जाने। उन्हे अपने जीवन की दशा की समीक्षा करनी चाहिये कि उनके मन मे कितना भय रहा है और कितना अभय का अवस्थान आया है। यदि ऐसी समीक्षा वे सतत रूप से नही करते हैं तो ध्यान रहे कि उनकी साधना परिपक्व नही बनेगी। भय की विद्यमानता मे साधना की परिपक्वता सफल नही बनती है। नि शक साधना का रूप ढलेगा तभी साधक मे परिपक्वता आवेगी तथा उसकी शीघ्र मोक्षगामिता का प्रसग बन सकेगा।

मुनि गजसुखमाल की परिपूर्ण निर्भय साधना

मुनि गजसुखमाल जब श्मशान मे ध्यानस्थ हो गये तो उनके सामने देव सबधी भय नहीं आया, लेकिन मनुष्य सबधी भय आया। श्मशान में सोमिल ने भयावने शब्दों का उच्चार करते हुए उनके सिर पर गीली मिट्टी की पाल बाधी और बीच में लाल लाल धधकते हुए अगारे रख दिये। कोई छोटी सी चिनगारी लेकर भी सामने आवे तो क्या आप उसके सामने ठहरेगे ? आप क्या, चिनगारी देखकर तो सिह भी दूर भाग जाता है। परन्तु मुनि गजसुखमाल की आत्मा मे निर्भय वृत्ति की अनुपम परिपूर्णता आई हुई थी – क्षमाचारी की उत्कृष्ट स्थिति

बनी थी कि वे अपने अन्तिम समय तक आत्मिक निर्भय-साधना में सम्पूर्णतया तल्लीन रहे।

उन्होने बारहवीं भिक्षु पडिमा की जो कठोर साधना की अपनी सुकुमार अल्प वय मे – वह कितनी आदर्श तथा ससार को आत्मोत्थान का मार्ग दिखाने वाली प्रेरक साधना थी ? इससे बढकर दूसरा कोई रुपक आपको नहीं मिलेगा। जीवन की वृत्तियो से भय का सम्बन्ध जब सर्वथा सर्व प्रकारेण छूट जाता है, तभी साधना की परिपक्वता एव उत्कृष्टता प्राप्त होती है।

कभी मेरे भाई प्रश्न कर सकते हैं कि भगवान् अरिष्टनेमि परम श्रेष्ठ ज्ञानी थे, फिर उन्होंने गजसुखमाल मुनि के साथ एक दो मुनि और क्यों नहीं भेज दिये ? यदि भेज देते तो सोमिल का उपसर्ग नही आता। लेकिन प्रश्नकर्त्ता को सोचना चाहिये कि भगवान् केवलज्ञानी थे। वे जानते थे कि अन्य मुनियो को साथ में भेजे तो उपसर्ग नही आवेगा और उपसर्ग नही आवेगा तो शीघ्र मोक्ष जाने का प्रसग नहीं बनेगा। उन्होने देख लिया था कि मुनि गजसुखमाल की आत्मशुद्धि का योग आ गया है। अत जैसे सोना आग मे तपकर शुद्ध बनता है, वैसे ही यह आत्मा भी जितनी अधिक भय से मुक्त होकर तप में तपेगी उतनी ही शीघ्र मोक्षगामी बनेगी। गजसुखमाल मुनि के कल्याण का भविष्य देखकर ही भगवान् ने उन्हें विशिष्ट पडिमा साधने की विशिष्ट आज्ञा प्रदान की थी। उनकी आत्मा निर्भय है, सातो प्रकार के भयों से मुक्त हो चुकी है और पडिमा साधने के योग्य बन गई है – यह सब जानकर ही अरिष्टनेमि ने आज्ञा की आराधना करने के लिये गजसुखमाल को अकेले ही श्मशान मे भेज दिया, किसी अन्य मुनि को साथ में नही भेजा।

मुनि गजसुखमाल की ऐसी परिपूर्ण निर्भय-साधना भव्य आत्माओं के लिये परम आदर्श रुप है।

साधु-जीवन नि शक होता है
न वे डरते है, न किसी को डराते हैं

साधु जीवन की साधना में यह भेद समझ मे आ जाता है कि भगवान् की सेवा कैसे की जाती है ? अपने जीवन को नि शक बना कर वह प्रभु की आराधना की विधि को साध लेता है। ऐसी आत्मा चाहे किसी भी अवस्था में क्यो न हो – उनके जीवन मे नि शक और निर्भय वृत्ति स्थायित्व ग्रहण कर लेती है – इस कारण वह अभय की विधि मे पुष्ट बन जाती है। वह स्वय किसी भी भय से डरती नहीं है तो किसी दूसरे को किसी भी प्रकार से डराती भी नहीं है। यदि कोई स्वय तो नहीं डरे लेकिन दूसरो को वह डराने की चेष्टा करे तो उसके जीवन को नि शक नहीं कह सकेगे। नि शक वह होता है जो स्वय भी अभय बनता है तथा

दूसरो को भी अभय बनाता है।

कल्पना करे कि एक व्यक्ति घोषणा करे कि वह निर्भय है, अभय और शक्तिशाली है लेकिन साथ मे शस्त्र लेकर चले तो क्या वह वास्तव मे निर्भय कहलायगा ? जरा ख्याल करिये कि जो स्वय डरने वाला नहीं है, लेकिन शस्त्र हाथ में लेकर दूसरो का डराना चाहता है, उसके लिये ज्ञानीजन कहते हैं कि उसमें दूसरो को डराने की भावना है तो वह स्वय भी शुद्ध रूप से निर्भय नहीं बना है। हकीकत मे दूसरों को डराने के बहाने स्वय ही डर रहा है। वह अपने आप मे डर रहा है, इसलिये वह अभय नही है। भय का द्योतन कराने वाली वस्तु का साधन उसके पास है। उसने शस्त्र क्यो ग्रहण कर रखा है ? यदि स्वय अभय है तो शस्त्र साथ मे रखने की क्या आवश्यकता है ? आप लोग भी रात मे घर से बाहर निकलते हैं तो लकडी हाथ मे लेकर क्यो निकलते हैं ? भय मन मे बना रहता है इसीलिये तो लकडी लेकर निकलते हैं। जगल मे जाते समय पहले के लोग तीर कमान हाथ मे लेकर जाते थे। कारण, उन्हे जगल में जगली जानवरो का भय रहता था।

आज भी कई देश ऐसे हैं जो बडे और शक्तिशाली देश हैं, लेकिन उन्होने अपने पास मे विविध प्रकार के युद्धास्त्रो तथा परमाणु अस्त्रों के ढेर जमा कर रखे हैं तो यह उनकी भय मुक्ति का लक्षण नहीं है बल्कि यह उन की भयभीतता का ही लक्षण है। जो शस्त्रो से दूसरो को डराना चाहता है, वह महान् भय वाला है। दूसरो को डराने की भावना इस तथ्य की प्रतीक है कि वह खुद बहुत डरता है। दुनिया को बताने के लिये वह अपने को कितना ही बहादुर कह ले, लेकिन वास्तव में वह अभय नही है। इसलिये अभय की अवस्था तो तब आती है, जब व्यक्ति न तो स्वय डरता हो तथा न किसी दूसरे को किसी भी प्रकार से डराने की भावना रखता हो।

इस दृष्टि से ऐसी अभय वृत्ति की पुष्टि साधु जीवन मे समव बनती है। अहिसा की साधना ऐसी अभय वृत्ति को परिपक्व स्वरूप प्रदान करती है। जो सयम की साधना मे किसी भी रुप में शकाशील नहीं रहता है, वह अभय वृत्ति का साधक बन जाता है।

सयमी जीवन की स्थिति
नि शक, निर्भय और अभय बने

सयमी जीवन की स्थिति नि शक, निर्भय और अभय बने – यही एक साधक से अपेक्षा रहती हैं। मैं सत जीवन का प्रसग उपस्थित कर रहा हूँ कि वे स्वय नहीं डरते हैं तथा दूसरो को भी नहीं डराते हैं। कोई पूछे कि इसका क्या प्रमाण है ? पहला प्रमाण तो यह है कि मुख वस्त्रिका वायु के जीवो की रक्षा के

लिये धारण की जाती है। जब छोटे से छोटे जीवो की रक्षा का भाव है तो किसी भी जीव को डराने का सवाल ही नहीं उठता है। दूसरे, रजोहरण की डडी पर भी कपडा इसलिये चढाया जाता है कि कोई उसको भय का प्रतीक नही मान ले। नगे पाव चलने का प्रसग है, वह भी अभय वृत्ति का ही लक्षण है।

सयम की स्थिति मे शकाशीलता पूरी तरह से समाप्त हो जानी चाहिये और नि शक, निर्भय तथा अभय वृत्ति का स्वस्थ विकास हो जाना चाहिये। वस्तुत साधु जीवन अभय वृत्ति का आदर्श बनना चाहिये कि वह स्वय अभय हो तथा उससे दूसरो को अभय मिले। स्वय नि शक हो तथा दूसरों की शकाशीलता को समाप्त करे। साधु अपनी स्वस्थ साधना के माध्यम से प्रतिक्रमण करते हुए सभी भयों को जीत लेता है तथा ससार के भयों को जीतने के लिये कटिबद्ध होता है। ऐसा कटिबद्ध साधक ही भगवान् की सेवा का सम्पूर्ण भेद समझ कर उनकी सच्ची उपासना का अधिकारी बनता है।

नोखा
२ १० ७६

16

एके साधे, सब सधे, सब साधे सब जाय

सभव देव ते धुर सेवो सवे रे
भय चचलता होजे परिणाम नी रे
द्वेष अरोचक भाव।
खेद प्रवृत्ति हो करता थाकिये रे
दोष सबोध लखाव।।

इस विराट् विश्व के समग्र तत्त्वो के बीच मे परमात्मा का परम पावन स्वरूप जीवन के उत्थान हेतु आदर्श सम्बल होता है। परमात्मा के आदर्श को सम्मुख रख करके आत्मा प्रभु भक्ति एव प्रभु सेवा का स्वरूप समवेत रीति से जान ले तथा जैसा जाना है वैसा ही व्यवहार मे ढाल ले तो उसकी वैसी रचनात्मक प्रभु सेवा उसके जीवन को विकास की उच्चतर श्रेणियो मे पहुँचा देती है।

यह मानव जीवन चौरासी लाख योनियो मे सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यही एक ऐसा जीवन है जहाँ से आत्मा सभी स्थानो को गमन कर सकती है। जिस योनि मे जाना चाहे, अपनी उस प्रकार की करणी से वह उस योनि मे जा सकती है। तिर्यंच योनियो मे जा सकती है, नरक योनियों में भटक सकती है तो पुन मानवीय दशा में भी आ सकती है और दिव्य देव स्वरूप को भी पा सकती है। अपनी आध्यात्मिक साधना के साथ यदि आत्मा अपने अन्तर्जीवन को सवार लेती है – पूर्ण पवित्र बना लेती है तो मोक्ष भी प्राप्त कर सकती है – ऐसा मोक्ष जहाँ सदा काल के लिये एक स्वरूप और एक सरीखा अबाध परमानन्द बना रहता है। आत्मा का यह सर्वोच्च विकास होता है कि वह शाश्वत रूप से अनन्त सुख की स्वामिनी बन जाती है।

साधना की बडी बाधा .
परिणामो की चचलता

प्रभु सेवा की पहली भूमिका का चिन्तन चल रहा है। अभी तक अभय वृत्ति का यह स्थूल अर्थ ही किया गया है कि न स्वय भय खावे और न दूसरो को भय देवे। लेकिन कवि आनन्दघन जी भयभीति की सूक्ष्म दशा के भीतर जाते हैं और कहते हैं कि भय बाहर से नहीं आता, भीतर में जन्म लेता है। परिणामो की अर्थात् मनोभावों की जो चचलता है, उसी से भय उत्पन्न होता है। भय के उद्गम का मूल यही है।

गहराई से सोचे तो इस आत्मा को चोर और डाकुओं का भय नही सता सकता है। भूत प्रेत भी इस आत्मा का सहसा कुछ नहीं बिगाड सकते हैं। इन सभी प्रकार के बाहरी भयों से भय दूर भाग जाता है, अगर भीतर मे परिणामो की चचलता का भय नही हो। भीतर मे मन की स्थिरता नही है तो वही सबसे बडा भय है तथा वही साधना की सबसे बडी बाधा है।

चचल मन में जो तरह तरह की विचार तरगे उठती हैं, वे ही भयकारक होती हैं तथा वे ही बाहर की भयग्रस्तता को भी निमत्रण देती हैं। न मालूम परिणामों की यह चचलता और अस्थिरता कितने समय से किस रूप मे चल रही है और किस प्रकार इस आत्मा को भयग्रस्तता से प्रताडित बना रही है ? प्रत्येक मानव को यह अवश्य ही अनुभव हो सकता है कि उसका मन चचल है अथवा स्थिर ? सच पूछे तो एक सैंकड के लिये भी एक ही विषय में मन को सर्वथा स्थिर बनाने मे कठिनाई का अनुभव होता है। क्योंकि जिस तरह का सासारिक वातावरण इस आत्मा के सामने है, वह मन की चचलता को हर तरह से बढाने वाला ही है। यह ससार की सारी रचना, इन्द्रियों को आकर्षित करने वाले विषय भोग, ललित कलाओं के विभिन्न अविष्कार तथा चल चित्र के प्रदर्शन के समान रगीन नजारे – ये सब भावो को चचल बनाते हैं – मन को अस्थिर करते हैं।

जन्म जन्मान्तरो की मानसिक चचलता इस रूप मे चलती आई है कि अब मन को स्थिर करना सरल नही रहा है। बारम्बार के प्रयासो के बाद भी वह स्थिरता को प्राप्त नहीं होता है। घडी की सुइयो की तरह मन की परिणमना सतत रूप से चलती रहती है। घडी की सुइयॉ तो निरन्तर एक सी गति से चलती रहती है, लेकिन मन की सुइया तो बेडोल चाल से इतनी तेज और इतनी अस्त व्यस्त घूमती है कि जिसकी किसी से उपमा देना भी शक्य नहीं है। कोई साइकिल के पहियों को हाथ से भी इतनी तेजी से घुमा देता है कि बीच की ताडियॉ दीखनी बन्द हो जाती है, पर वह पहिया भी थोडी देर घूम कर रुक जाता है, लेकिन मन का पहिया और उसके परिणामों की ताडियॉ निरन्तर इतनी तीव्र गति से घूमती

रहती है कि उन भावों की धारा को समझ पाना भी कठिन होता है। इस कारण ऐसी भाव धारा को स्थिर बना कर सवारना सहज नहीं होता। किसी भी साधना की सबसे बडी बाधा यह परिणामों की चचलता होती है।

मन की अस्थिरता से जीवन के सभी क्षेत्रो मे असन्तुलन

जहॉ तक मन की अस्थिरता को नहीं मिटा पाते हैं तो वहाँ तक जीवन के किसी भी क्षेत्र में सन्तुलन स्थापित नहीं किया जा सकेगा। मन की गतिविधियों की विचित्रता के बारे मे क्या कुछ कहा जाय ? यह विचित्रता चचल परिणामो की वजह से होती है और परिणामो को चचल बनाने और बनाये रखने का मुख्य कारण भय का भाव होता है। यह भय इस आत्मस्वरूप के साथ दीर्घकाल से लगा हुआ है और इससे जब तक मुक्ति नहीं मिले तो निर्भय बन कर न तो परमात्मा की सेवा सध सकती है और न ही परमात्म-स्वरूप को वरण करने की दिशा में गति बन सकती है। बडे-बडे महात्मा और योगी भी अपनी योग साधना करने के बाद जब मन की चचलता पर काबू नहीं पा सके तो उसका परिणाम यह हुआ कि जितनी योग साधना करके वे अपने जीवन को जहॉ तक ऊपर उठा सके थे, वहॉ से उनका जीवन फिर नीचे गिर गया।

मन की अस्थिरता से आध्यात्मिक क्षेत्र में तो पतन का मुह देखना ही पडता है, लेकिन जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों में भी असन्तुलन पैदा हो जाता है। परिणामों की चचलता मस्तिष्क मे तरह-तरह के तनावो का जन्म देती है जिनसे एक ओर मानसिक बीमारियॉ जीवन की स्फूर्ति को नष्ट कर देती है तो दूसरी ओर कई प्रकार की शारीरिक व्याधियॉ मनुय को रोगग्रस्त बना डालती हैं। उसका जीवन इतना अक्षय बन जाता है कि न तो वह धर्म साधना कर सकता है और न कर्म साधना ही उससे बन पडती है। व्यापारिक या व्यवसायिक अक्षमता से वह पीडित हो जाता है और ससार की स्थिति मे रहते हुए वह अपनी घरेलू समस्याओ का भी सन्तोषजनक समाधान नहीं कर पाता है। परिवार के बीच मे भी वह नाना प्रकार के क्लेशो से सन्तप्त बना रहता है।

यथार्थ स्थिति तो यह है कि क्लेश और दु ख बाहर से कोई नही देता, वे अपने ही मन की अस्थिरता से फूटते हैं तो उसी प्रकार सुख या आनन्द भी बाहर से नहीं आता। मन जब स्थिरता ग्रहण करके आध्यात्मिक दिशा मे अग्रगामी होता है तो सुख और आनन्द का झरना भी आन्तरिकता की गहराइयों मे से ही प्रस्फुटित होता है। यदि मन मे सुख है तो वह उस सुख को परिवार में और समाज में चारो ओर बिखेर कर सबको सुख पहुँचाता है। इसी सुख से समता की

स्थापना होती है। लेकिन अगर परिणामों की चचलता से अपने ही मन मे क्लेश और दु ख भरा हुआ है तो वैसा व्यक्ति बाहर सबको क्लेश ही तो दे सकता है। क्लेश के कारण उसका जीवन विषम बन जाता है तो वह उन अपनी विषमताओं के कटु सघर्ष से समाज में विषमता फैलाता है तो देश को छिन्न-भिन्न करने का निमित्त बनता है।

इसलिये जीवन के सभी क्षेत्रों मे विकास के स्वस्थ सन्तुलन का निर्माण करना है तथा विकास को सर्वोच्च शिखर तक पहुचाना है तो मन में स्थिरता लाने का अभ्यास तुरन्त ही आरभ कर देना चाहिये।

मन का निग्रह करने से आत्मा परमात्मा बन सकती है

मन की अस्थिरता एव चचलता को दूर करने तथा मन का निग्रह करके भय की स्थिति का निवारण करने के कार्य में प्रतिदिन के सत समागम से सशक्त सहायता मिल सकती है। सन्तो की समीपता में रहने से एव सन्तों के उपदेश श्रवण करने से समस्त शास्त्रो का निचोड तथा जीवन की अनुभूति का निष्कर्ष मिलता है और यदि इस निष्कर्ष को मनुष्य ग्रहण करता रहे तो धीरे-धीरे वह परिणामो की चचल वृत्ति को समाप्त कर सकता है। यह अभ्यास यदि परिपक्व अवस्था प्राप्त कर ले और आत्म स्वरूप सपूर्णतया उज्ज्वल बन जाय तो एक दिन यह आत्मा परमात्मा बन सकती है।

कभी-कभी मेरे भाई कुछ स्तुतियाँ करते हैं। देवों की स्तुतियाँ करते हैं तो देवी की उपासना करके अपने जीवन को समृद्ध बनाना चाहते हैं। वे सोचते हैं कि हम इन उपासनाओं से दु ख और दर्दों से ऊपर उठकर जीवन में ऋद्धि सिद्धि के स्वामी बन जावें। इस कामना से मनुष्य पत्थर-पत्थर पूजता है और अपने मन को अत्यधिक चचल बनाता है। गलत रास्ता पकडेंगे तो हानि ही होगी। लौकिक ऋद्धि सिद्धि को प्राप्त करने के लिये अन्धविश्वास के चक्कर में पडेंगे तो धन लालसा बढेगी तथा धन लालसा उग्र बन जायगी तो फिर वर्तमान में नीति अनीति का जो स्तर होगा, वह और नीचे गिर जायगा। यह स्पष्ट है कि तृष्णा वैतरणी नदी के समान होती है जिसका अन्त नहीं आता। ऐसी वृत्ति मन को इतना अधिक अस्थिर बना देगी कि फिर उस पर सही नियन्त्रण कर पाना भी दुस्साध्य हो जायेगा।

इसलिये प्रयास यह होना चाहिये कि मन को निग्रह करने का अभ्यास आरभ किया जाय तथा पूरे यत्न के साथ उसकी विचार-श्रेणियों को भावों की शुभ धारा के साथ जोडे। ऐसा करना एकदम सभव नहीं होगा। हमेशा अभ्यास

करते-करते आत्म शक्ति का धीरे-धीरे विकास होता रहेगा तथा एक दिन वह इतनी सशक्त बन जायगी कि मन की गतिविधियो पर अपना पूर्ण अनुशासन जमा ले। बहुत सारे लक्ष्य ऐसे होते हैं जो एकदम प्राप्त नहीं हो जाते हैं। उनकी प्राप्ति के लिये अपने आत्मबल के अनुसार अमुक अवधि तक अभ्यास करना पडता है। विद्याध्ययन की ही बात को लेलें। क्या कोई आज अ आ सीखना शुरू करे और आज ही एम ए की परीक्षा दे सकता है ? विद्याध्ययन विद्यार्थी की बुद्धि के अनुसार अपना समय लेता है, उसी प्रकार मन के निग्रह में भी यथोचित समय की अपेक्षा रहेगी। उसके अभ्यास मे कठिनाइयॉ भी आयगी, लेकिन ज्यो-ज्यों उनका साहस के साथ सामना किया जाता रहेगा, आगे का मार्ग आसान बनता जायगा।

ज्ञानी जनो ने इसका सकेत दिया है कि "निग्गहे मणो परसरे अप्पा परमप्पा हवई" अर्थात् यदि मन के प्रसार को, मन के विकल्प को या मन की व्यर्थ कल्पनाओ पर रोक लगानी है तो उसके लिये निरन्तर अभ्यास करना होगा। मन की गतिविधियो को आत्मस्थ करने का यह अभ्यास होगा। जिस दिन अभ्यास पूरा होकर आत्मानुशासन परिपक्व बनकर समग्र सम्पूर्णता प्राप्त कर लेगा तो उस दिन यही आत्मा पूर्णता प्राप्त करके परमात्मा बन जायगी।

अपने काले धब्बो को प्रतिदिन मिटाते रहे

आत्मा की परमात्म स्वरूप में परिणति मन की स्वस्थ गति पर निर्भर करती है। मन की स्वस्थ गति का निर्माण होगा मन के निग्रह द्वारा याने कि मन उसी दिशा में गति करे जिसका आदेश उसको अन्तरात्मा से मिले – विदशा में भटकने की उसको किसी प्रकार की स्वच्छन्दता न रहे।

मनोनिग्रह के अभ्यास के लिये प्रतिदिन भाई बहिनो को सकेत दिया जाता है कि आप पूरे चौबीस घटों तक मन के जिस पट (वस्त्र) को फैला करके रखते हैं, उस फैलाये हुए वस्त्र पर चौबीस घटों मे कम से कम एक बार तो बारीकी से देख लेने की आदत बनावें कि उस पर किसी रूप मे कहॉ-कहॉ काले धब्बे लगे हैं तथा उन धब्बों को प्रतिदिन मिटाते रहने का अपना अभ्यास बना ले। इस अभ्यास से मन का पट बहुत ज्यादा गदा और चिकट नहीं बनेगा और उसकी विचार-विधि उच्छृखल नहीं हो सकेगी।

यह सोचने की बात है कि साधारण रूप से पहिनने, ओढने या बिछाने के वस्त्रों को तो आप मलिन नही होने देते हैं, लेकिन इस बात का तनिक भी ख्याल शायद ही रखते हो कि मन का अपना वस्त्र कितनी असावधानी से कहॉ-कहॉ अत्यधिक मलिन होता रहता है ? पहिनने के वस्त्र पर चाय का या कोई भी जरा

सा धब्बा लग जाय, उसे आप तुरन्त धोने की चेष्टा करते हैं कि कोई देखेगा तो वह अच्छा नहीं लगेगा। लेकिन उस मन की मलिनता को न देखने की चेष्टा करें और न उसे धोने का पुरुषार्थ बतावे तो वह कितनी अशुभ बात कहलायगी ? कपडे की सफाई का ध्यान अधिक है या मन की सफाई का – इसका निर्णय आप ही करे।

कहने का अभिप्राय यही है कि अगर निग्रह का लक्ष्य बना ले तो उसका अभ्यास क्रम व्यवस्थित किये बिना लक्ष्य सफल नही हो सकेगा। इस हेतु यही आवश्यक है कि जैसे साधुजी अपने पास रहने वाले वस्त्रो आदि की रोज पलेवणा करते हैं, वैसे ही आप अपने मन रूपी वस्त्र की भी प्रतिदिन पलेवणा करना न भूले। रोज के रोज मन की गति को परख लेगे और आत्मालोचना करके प्रतिक्रमण करते रहेगे तो मन की कालिख गहरी नहीं होगी। इस अभ्यास चर्या में मन पर नई मलिनता चढने का प्रसग कम रहेगा तो प्रतिदिन की आलोचना पद्धति से पहले जमी हुई मलिनता भी दूर होती रहेगी। इस प्रकार के अभ्यास से मन की गतिशीलता स्वस्थ बनेगी तो वह स्वच्छ भी बनेगी। वैसे स्वच्छ मन ही स्वस्थ होता है। अभ्यास में मन की यह साधना एकजुटता से चल सकेगी बशर्ते कि अपने मन रूपी वस्त्र के काले धब्बों को प्रतिदिन मिटाते रहें।

एक मन को साध लेगे
तो जीवन का सब कुछ सध जायगा

कभी-कभी भाइयों को सकेत दिया जाता है कि वे मन को साधने के लिये कोई न कोई साधना का अभ्यास करे तो वे कहते हैं – महाराज, हमारे पास समय नहीं है। व्यापार-व्यवसाय मे इस तरह उलझे हुए हैं कि मन को साधने का समय कहॉ से निकालें ? लेकिन वे यह नहीं समझते कि व्यापार मे उनका मन स्थिर है अथवा अस्थिर है ? यदि आप धार्मिक साधना से अभय प्राप्त करते रहें तो आपका मन व्यापार में भी स्थिर रहेगा। जो यह कहते हैं कि हमारे पास समय नहीं है, उनके बारे में यह समझना चाहिये कि उनके सामने समय का सवाल नहीं, पर हकीकत में मन की अस्थिरता का ही सवाल है। मन की अस्थिरता के कारण मन को ही स्थिर बनाने की समस्या पर भी वे यथोचित समाधान खोजने में अक्षम हो जाते हैं। उस अक्षमता को छिपाने की कोशिश समय न होने के बहाने से की जाती है।

कौन ऐसा व्यक्ति है जो चौबीसो घटो तक निरन्तर काम मे ही लगा रहता है ? अधिकाश समय तो व्यर्थ के कामो में जाता है और करीब-करीब सारे समय तक मन की गति मे स्थिरता शायद ही कहीं जम पाती हो। बाहर काम क्या हो

रहा है, लेकिन मन तो अपने रग बिरगे चित्रो में उलझा ही रहता है। कई व्यर्थ के कामों जैसे सिनेमा देखना और इधर-उधर भटकना आदि मे आपको समय मिल जाता है लेकिन मनोनिग्रह के पवित्र अभ्यास के लिये आपके पास समय नहीं होता यह कितने आश्चर्य की बात है ? जिन व्यर्थ के कामो में समय के साथ शक्ति का भी अपव्यय होता है, उनको तो आप छोड नहीं पाते, लेकिन मन की स्थिरता के काम को आप पकडने के लिये भी आगे नहीं बढते हैं। इस कारण कर्म बन्धन भी होता है तो आत्मा की मलिनता भी अधिकाधिक बढती जाती है। मन की ऐसी दुर्दशा आपके व्यापार व्यवसाय में भी हानिकारक ही होती है। व्यवहारिक क्षेत्र में भी इसके कारण आपकी साख नहीं बन पाती है। मन की अस्थिर अवस्था के साथ आप कहीं भी सफल नहीं होते हैं।

ज्ञानीजन स्पष्ट कहते हैं कि किसी भी क्षेत्र मे अथवा किसी भी कार्य में क्यो न लगे होंवे, सभी स्थानो पर मन की एकाग्रता परम आवश्यक होती है। जहॉ भी मनोनिग्रह नही होगा, वहॉ का काम बिगडेगा ही। मन पर नियत्रण न रख सकने वाले मनुष्य की विचित्र दशा बन जाती है। वह कर्म के क्षेत्र मे भी असफल होता है तो धर्म के क्षेत्र मे भी उसके हाथ सफलता नही आती है। किन्तु जो व्यक्ति इस मन की चचलता पर अकुश लगा देता है, उसके लिये सभी क्षेत्रो में सफलता सरल हो जाती है।

जो यह कहा गया है कि-

एके साधे सब सधे,
सब साधे, सब जाय।

इसमें जीवन सत्य छिपा हुआ है। जो व्यक्ति एक मन को साध लेता है, समझिये कि उसके जीवन का समूचा विकास सध जाता है। मन को साधा तो सबको साध लिया और मन को न साधकर अनेकानेक पदार्थों को साधने मे जुटेगे तो शायद है कुछ भी नहीं सधेगा। मन का निग्रह कर लेते है तो सतोष कर सकते हैं कि एक महद् कार्य में सफलता प्राप्त कर ली गई है और यह सफलता ऐसी है जिससे ही अन्य प्रकार की सारी सफलताओं की शाखाएँ-उपशाखाएँ फूटेगी। मन को काबू में कर लिया तो ऐसी बडी शक्ति को काबू मे कर लेगे जिसको जब आत्म साधना के कार्य में नियोजित कर देगे तो उसकी सहायता से उच्चतम लक्ष्य तक को सिद्ध किया जा सकेगा।

मन को रोकिये कि वह दो घोडो पर सवारी न करे

अपनी चचलता के कारण मन हमेशा दो घोडो पर सवारी करना चाहता

है। यहीं देखिए कि एक भाई महाराज का व्याख्यान भी श्रवण कर रहा है लेकिन पुस्तक भी खोल कर पढ रहा है। तो महाराज का व्याख्यान उसकी समझ मे क्या आयगा ? फिर कोई पूछेगा तो कहेंगे कि महाराज ने कुछ कहा तो था लेकिन सुना नहीं। सुने कहाँ से – कान में शब्द आते रहे, दृष्टि पुस्तक मे लगी है और मन इन दोनो घोडों पर सवारी करता रहा। जो दो घोडों पर सवारी करता है उसका किसी भी घोडे पर पैर नहीं टिकता है। वह कहीं भी कामयाब नहीं बनता हैं। यह चचल मन का परिणाम स्पष्ट समझना चाहिये।

दो घोडों पर लेकिन सवारी करने की मन की आदत सी बन गई है। किसी एक भी घोडे की पीठ पर स्थिरता आती नहीं और किसी भी कार्य मे पूर्ण सफलता प्राप्त होती नहीं। ऐसी असफलता की स्थिति चचल मन के कारण बनी रहती है। बैठते हैं पुस्तक पढ़ने के लिये तो मन चला जाता है – व्यापार में। बैठते हैं व्यापार करने के लिये और मन मिठाइयॉ खाने की लालसा मे बह जाता है। सामायिक का व्रत लेकर आत्मस्थित होना चाहिये, मगर मन है कि इन्द्रियों के विभिन्न विषयो की पूर्ति की तरफ दौड जाता है।

मन की इस दोहरी चाल से न भगवान का भजन होता है और न व्यापार का सचालन। क्या आपको अपनी ऐसी अस्थिर दशा के प्रति ग्लानि नहीं होती ? क्या आप सोच नहीं पाते हैं कि मैं क्या हूँ और मन के हाथों किस तरह दुर्दशाग्रस्त बनाया जा रहा हूँ ? क्या मैं मशीन की तरह ही मन की स्वच्छन्द माया मे गोते लगाता रहूगा अथवा अपने पुरुषार्थ से अपनी जीवनी शक्तियों का स्वामी भी बन सकूगा ?

इन प्रश्नों को अपनी अन्तर्चेतना मे बार-बार घुमाइये और महसूस करिये कि क्या मानव जीवन में आकर भी विकास का मार्ग नही खोज पायेंगे ? इस जीवन को निरर्थक न करिये, विशिष्ट पराक्रम दिखाने का सकल्प बनाइये और सबसे पहले मन को रोकिये कि वह दो घोडो पर सवारी करना छोड दे। मन की एकरूपता के बिना कोई भी साधना सफल नहीं बनती है।

मन की स्थिरता एव अस्थिरता के पक्षो की तुलना

मनुष्य सोचता है कि आज का युग भौतिकवाद के चमत्कार का है। कोई भौतिक चमत्कार बता देता है तो वह उसके पास भाग कर जाता है। वह यह नहीं सोचता है कि उस चमत्कार से जीवन की उन्नति मे क्या मिल जाने वाला है ? ऐसी वृत्ति के पीछे मन की अस्थिरता ही मुख्य कारण होती है। अगर उसका मन स्थिर हो तो वह यही सोचेगा कि वह स्वय ऐसी कला और ऐसी साधना का

अभ्यास बनावे और स्वय चमत्कार दिखाकर दुनिया को चकित कर दे। परन्तु मन की अस्थिरता उसको किसी एक काम मे जुटने नही देती है। वह पुरुषार्थ से कतराता है और अस्थायी लाभो की तरफ मुडना चाहता है। होता यह है कि दुविधा मे दोनो जाते हैं। न तो उसे अस्थायी लाभ प्राप्त होते हैं और न आध्यात्मिक लाभ – क्योंकि मन की अस्थिरता के कारण आध्यात्मिक दिशा में गति ही नही होती है। अस्थिर चेता को अन्ततोगत्वा पश्चाताप ही प्राप्त होता है।

प्राचीन काल का एक ऐसा ही प्रसग स्मृति मे आ गया है। रसायनाचार्य शुक्ल नाम के एक व्यक्ति ने रसायन शास्त्र मे बहुत बडी उपलब्धि प्राप्त की। ऐसी उपलब्धि भी प्राप्त कर ली कि तपे हुए लोहे मे कुछ बूदे उस रसायन की डाल दी जाती है तो वह लोहा सोना बन जाता। वे अपने आपको रसायन शास्त्र का चमत्कारी पुरुष मानते थे। उसी समय में लब्ध्याचार्य जितेन्द्र नाम के व्यक्ति आध्यात्मिक उपलब्धियो से सम्पन्न थे जिनके परिणामस्वरूप वे चाहते वैसी स्थितियो की व्यवस्था कर सकते थे। रसायनाचार्य ने सोचा कि 'क्या लब्ध्याचार्य उनसे बढकर हैं या नहीं' इसका पता लगाना चाहिये। यह सोचकर उन्होने अपने स्वर्ण रसायन को एक मिट्टी के सिकोरे मे भर कर अपने शिष्य के हाथ उनके पास भेजा और सब बात उसको समझा दी।

शिष्य वह रसायन लेकर लब्ध्याचार्य के पास पहुँचा और बोला – मेरे गुरु ने बहुत श्रम करके सिद्धि प्राप्त की है और आज उनके बराबर अन्य कोई नहीं है। इस रसायन से आप कई मण लोहे को सोना बना सकेंगे। लब्ध्याचार्य ने कहा – भौतिक रसायन की मुझे कोई आवश्यकता नही है। मैं तो ससार के पदार्थों का त्याग करके साधना कर रहा हूँ और मन की चचल वृत्तियों को रोक कर जीवन की उपलब्धि मे लगा हूँ। उन्होने व्यर्थ ही यह रसायन मेरे पास भेजा। लेकिन उन्होंने इसे मेरे पास क्यो भेजा है – इसका उद्देश्य मैं नहीं समझ पाया हूँ। शिष्य ने बताया – आपको अपनी शक्ति से प्रभावित करने के उद्देश्य से ही उन्होने यह रसायन आपके पास भेजा है। लब्ध्याचार्य ने उनके इस काम को मन का अभिमान बताया और कहा – इस अहकार से अब उनके आगे बढने पर ताला लग गया है – यह समझ लेना। तुम व्यर्थ ही मेरे पास आये। शिष्य ने रोषपूर्वक उत्तर दिया – क्या आप मे अपने ज्ञान का अभिमान नहीं है ?

लब्ध्याचार्य ने कहा – मुझे ज्ञान और आत्मा की शक्ति को किसी को बताने की जरूरत नही है जैसी कि तुम्हारे गुरु ने बताई है। इस पर वह शिष्य कह उठा – उन मे अभिमान है तो आप में भी अभिमान है। इस पर लब्ध्याचार्य के शिष्यों मे कुछ आक्रोश फैला। उनमे से एक ने कहा – तुम आध्यात्मिक महात्मा पर अभिमान का आरोप लगा रहे हो। लाओ तुम्हारा रसायन, देखते हैं कैसा है ? उसने रसायन लिया और उसको मिट्टी में उडेल दिया। रसायनाचार्य के शिष्य को

खिन्नता हुई कि इतने अमूल्य रसायन को उसने नष्ट कर दिया। लब्ध्याचार्य के शिष्य ने आचार्य के पात्र में से एक चीज उस मिट्टी के पात्र में उडेल दी और कहा – इसे ले जाकर तुम्हारे आचार्य को दे देना।

वह शिष्य अपने रसायनाचार्य के पास पहुँचा और उसने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। मिट्टी के बर्तन को खोला तो पता चला कि उसमे तो पेशाब है। वे क्रोधित हो उठे और वहीं मिट्टी के बर्तन को पटक दिया। सारा पेशाब उस शिला पर फैल गया। जहाँ-जहाँ पेशाब फैला था, वहाँ आग की लपटे निकलने लगी। वे दोनों आश्चर्य में पड गये, पर ज्यो ही आग ठडी हुई तो दिखाई दिया कि पूरा शिला सोने की बन गई है। उन का आश्चर्य और बढ गया। रसायनाचार्य का गर्व चूर-चूर हो गया। वे सारा मामला समझ गये और उन्होने निश्चय किया कि लब्ध्याचार्य की सेवा मे जाकर वे उनके चरणो मे समर्पित हो जायेंगे। गुरु-शिष्य दोनो वहाँ पहुँचे। रसायनाचार्य ने लब्ध्याचार्य के चरणों में गिर कर कहा – आप जीते और मैं हारा। आपका रसायन तो मेरे रसायन से बहुत ऊँचा था जो सारी शिला सोने की हो गई। उन्होने कहा – मैंने तो कोई रसायन नहीं भेजा। लब्ध्याचार्य का शिष्य वही बैठा हुआ था, वह बोला–मैंने गुरुजी का पेशाब भर कर दिया था क्योंकि आपके शिष्य ने उनके साथ अशिष्टता की थी। वास्तव में लब्ध्याचार्य का कोई रसायन नहीं था, लेकिन शास्त्रकार कहते हैं कि जो मन को जीतने का परिपूर्ण अभ्यास कर लेता है उसको अठ्ठाईस प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त हो सकती है।

अब रसायनाचार्य लब्ध्याचार्य की सेवा मे ही रहने लगे। एक दिन लब्ध्याचार्य ने 'णमो अरिहताण' कहा और आकाश में उड चले और कुछ समय पश्चात् वापिस लौट आये। रसायनाचार्य तब आकाश मे उडने के किसी रसायन की जाच करने लगे तब उन्होंने समझाया – यह भौतिक नहीं, आध्यात्मिक शक्ति है जो मनोनिग्रह से प्राप्त होती है। अभियान छोडो और साधना करो, सिद्धियो की कमी नही है। फिर रसायनाचार्य ने भी साधुत्व ग्रहण किया और साधना करने लगे। उसके बल पर उन्होने भी कई सिद्धिया प्राप्त कर ली। यह एक तुलना है मन की अस्थिरता एव स्थिरता के दोनो पक्षों की और उनसे प्राप्त लब्धियो की।

जीवन का मीठा अनुभव लेने की तरफ ध्यान दे

कई भाई सोचते हैं कि सामायिक, सवर या अन्य धार्मिक क्रिया कैसे करे, क्योकि मन साधना मे टिकता नहीं है। मैं आपसे पूछू कि आप अधिक से अधिक पैसा कमाने और व्यापार मे तो कामयाब हो सकते हें, लेकिन धर्म साधना मे आपकी एकाग्रता नहीं होती इसका क्या कारण है ? कारण यही दीखता है कि

आप भौतिक उपलब्धियो और चमत्कार को प्रमुखता देकर चलते हैं किन्तु आध्यात्मिकता के महत्त्व को नही समझना चाहते हैं। रसायनाचार्य को भी आखिर मे इसी आध्यात्मिकता के क्षेत्र मे शरण लेनी पडी और आज के कई विज्ञानवेत्ता भी भौतिकता से आध्यात्मिकता के क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं। परन्तु आप क्या अब भी जीवन का मीठा अनुभव लेने की तरफ ध्यान नही देना चाहते ?

एक बार जीवन का मीठा अनुभव ले लेगे तो फिर आपको यह नहीं कहना पडेगा कि सामायिक करो, त्याग प्रत्याख्यान लो अथवा आध्यात्मिक तत्त्व की खोज करो। फिर तो आप स्वय पूरे उत्साह से तन्मय हो जायेगे और आगे बढकर सन्तों से आत्म विकास की तथा मन को वश में करने की विधि पूछेगे। तब सभवनाथ की सेवा की पूरी तत्परता बन जायगी।

एक मन को ही साध ले तो पर्याप्त है।

आप अपनी जीवन-शक्ति को एक मन की ही साधना मे लगा दे और मन का निग्रह करने मे सफल बन जावे तो सम्पूर्ण जीवन के विकास की दृष्टि से वही पर्याप्त है। आप इस साधना पर गहरा चिन्तन करे तथा सकल्पपूर्वक मन के निग्रह का अभ्यास आरभ कर दे। इसमे विलम्ब न करें। अकेले मन को आप साध ले तो ज्ञानी जन कहते हैं कि सम्पूर्ण आत्म-साधना को सम्पन्न बनाने मे आप सफल हो सकेंगे। एके साधे, सब सधे और सब साधे, सब जाय।

नोखा
३ १० ७६

17

आत्मिक तत्त्वों के प्रति अरुचि क्यों ?

समव देव ते धुर,
सेवो सवे रे

प्रभु समवनाथ की सेवा के लिये कवि ने प्रारमिक भूमिका का निर्देश दिया है। कवि चाहता है कि परमात्मा की सेवा शुद्ध भूमिका के आधार पर हो। पात्रता यदि सही बन जाती है तो उसमे वस्तु भी सुरक्षित रह सकती है। पात्र की अशुद्धि से वस्तु भी अशुद्ध बन जाया करती है।

मानव प्रभु-भक्ति अथवा प्रभु-सेवा का पात्र है या नहीं, उसके अन्दर वैसी भावना है या नहीं – इस बात की कसौटी परमात्मा की भूमिका है जिसका कवि ने सकेत दिया है। जिस मानव के अन्त करण मे अभय, अद्वेष और अखेद – इन तीन पवित्र वृत्तियों की अवस्था आ जाती है, वह मानव प्रभु की सेवा के योग्य बन जाता है। तब वह अपने जीवन की सम्पूर्ण वृत्तियों एव प्रवृत्तियो को भी तदनुरूप ढाल लेता है।

पर-पदार्थ के मोह से राग और द्वेष की परिणति

पहली अभय वृत्ति का कुछ विश्लेषण किया गया है और उसके सम्बन्ध मे चर्चित विभिन्न दृष्टिकोणो से यह स्पष्ट हुआ है कि परिणामों की चचलता से भय उत्पन्न होता है और गहराई से देखे तो परिणामों की उस चचलता के कारण पर-पदार्थो मे मन का मोह-लगाव पैदा होता है और उस मोह से रोग द्वेष की परिणति होती है। पर-पदार्थ के साथ मनुष्य का लगाव जितना गहरा बनता है, उतना ही अधिक वह लगाव मनुष्य के समूचे जीवन को कलुषित बना देता है।

एक दृष्टान्त से इसे समझे कि बगीचे मे घूमने की दृष्टि से दो पुरुष पहुँचे। दूर से एक सुन्दर पुष्प एक साथ दोनो की नजर मे आया। वह दोनो को मनभावन लगा। दोनो के मन मे भाव पैदा हुआ कि इस पुष्प को मैं लू। पहला पुरुष आगे बढता है और फूल को तोड लेने की कोशिश करता है कि दूसरा पुरुष तिलमिला उठता है और सोचता है कि उसके देखे हुए फूल को पहला पुरुष कैसे ले रहा है ? वह वहीं से पुकारता है – अरे भाई, इस पुष्प को पहले मैंने देखा है, मैं इसे लूगा। तुम मत तोड लेना। पहला पुरुष उत्तर देता है – तुमने इसको पहले कहाँ से देखा ? पहले तो मैंने देखा है। मैं ही इसको लूगा। इस प्रकार दोनो के बीच में द्वन्द छिड जाता है। यह द्वन्द या सघर्ष अपने माने हुए स्वार्थ के कारण होता है।

आप इस रुपक को समझिये कि वह पुष्प किसका है ? पहले पुरुष का या दूसरे पुरुष का अथवा किसी अन्य पुरुष का ? वह पुष्प तो किसी का नही है। वह तो प्रकृति की उपज है लेकिन दोनो पुरुष अपनी अपनी लगाव की दृष्टि से सोचने लग गये कि यह पुष्प हमारे लिये सुखदायक है। वास्तव मे वह पुष्प सुखदायक है अथवा नही – इस बात पर उन्होने चिन्तन नहीं किया परन्तु चक्षु इन्द्रिय को वह सुहावना दिखाई दिया और घ्राण इन्दिय ने भी सुगन्ध का स्वाद लिया तो वह पुष्प मन-भावन बन गया। इस आधार पर दोनो ने उसको अपने अपने लिये सुखदायक मान लिया। यह उनकी मान्यता ही थी कि जिसके कारण दोनो की उस पुष्प में राग-भावना पैदा हुई।

राग के स्वरूप को आप सुनते हैं और राग के साथ ही द्वेष की परिणति को भी आप समझते हैं। राग की पूर्ति के लिये ही द्वेष की उत्पत्ति होती है। एक पदार्थ के प्रति एक का राग भाव पैदा होता है और यदि उसी पदार्थ पर दूसरे का भी रागभाव पैदा होता है तो पहले का दूसरे व्यक्ति के प्रति द्वेष भाव पैदा हो जाता है क्योंकि वह यह नही चाहता कि जिस पदार्थ पर उस का राग भाव बना है, उस पदार्थ को दूसरा लेले और वह उस पदार्थ से वचित रह जाय। पहले पुरुष का जब उस पुष्प पर राग बना और उसके साथ ही दूसरे पुरुष का भी पुष्प पर राग भाव बना तो पहले और दूसरे पुरुषो के बीच द्वेष भाव की सृष्टि हुई। दोनों के मन में इस बात का आक्रोश पैदा हुआ कि कही उसका राग भाव असफल न हो जाय। दोनो एक साथ उद्विग्न बने क्योंकि दोनो उस पुष्प को ग्रहण करना चाहते थे, लेकिन वह उनको मिले या नहीं मिले इस पर दोनो में परस्पर एक दूसरे के प्रति द्वेष भावना पैदा हुई। दोनो मे से प्रत्येक पुरुष द्वेष के साथ ही प्रतिशोध से पीडित बना कि मैं फूल को पहले ले लू और दूसरा उसको ले ले तो उसको मैं पीटू। इसलिये द्वेष का जो भाव है, वह राग की पूर्ति करने वाला तत्त्व है, स्वतत्र तत्त्व नहीं हैं। राग द्वेष की इस रुप में एक या दूसरे पदार्थ की प्राप्ति कामना मे परिणति होती है।

ससार के विभिन्न पदार्थ एव आत्मिक तत्त्व

मनुष्य उस मन भावन पुष्प की तरह की ससार के विभिन्न लुभावने पदार्थो को देखता है, उनमे अपने इन्द्रिय सुख की कल्पना करता है और उन्हे प्राप्त करना चाहता है। इस रुप में उन पदार्थों के प्रति उसकी राग भावना बनती है। इस राग भाव की आन्तरिक प्रतिक्रिया क्या होती है ?

आत्मा का निजत्त्व भाव अपना होता है, इस कारण ससार के जितने जड पदार्थ हैं, वे इस आत्मा के लिये पर-पदार्थ हो जाते हैं। याने कि ससार के पदार्थ और आत्मिक तत्त्व परस्पर विरोधी हो गये। आत्मा चेतन होती है – जीव है तो वे पदार्थ जड होकर अजीव होते हैं। चेतन पर जड का और जीव पर अजीव का जो वर्चस्व है, वही चेतन और जीव के लिये बन्धन है। इस बन्धन को सर्वथा दूर कर देना है, वही इस आत्मा का मोक्ष है। यह आत्मा इस शाश्वत लक्ष्य से जब विमुख बनती है इसी कारण कि वह ससार के पदार्थो के प्रति व्यामोहित हो जाती है। जब वह पर-पदार्थो के प्रति राग-भाव बनाती है तो उसका निजत्त्व के प्रति अपने ही तत्त्वो के प्रति द्वेष भाव बन जाता है। एक के प्रति राग है तो उसके विरोधी तत्त्वो के प्रति द्वेष की परिणति स्वाभाविक होती है। ऐसी मन स्थिति मे आत्मा को अपने ही आत्मिक तत्त्व के प्रति अरुचि हो जाती है।

ससार के विभिन्न पदार्थो के प्रति राग-भाव बनने के साथ आत्मा उनके लिये ललचाती है और उन्हें प्राप्त करने की कामना बनाती है। उस समय मे वह अपने ही स्वरूप के प्रति दृष्टिपात नहीं करती है। वह तब परमात्म स्वरुप के विषय मे भी चिन्तन नही करती है। बाह्य दृष्टि मे सुहावनी लगने वाली वस्तुओं को ग्रहण करने में ही वह प्रयत्नशील बनी रहती है। वह समझ लेती है कि ये सब आकर्षक और रुपवान पदार्थ ही मेरे लिये अच्छे हैं – मनोज्ञ हैं। तब मन और पाचों इन्द्रियो के विषय उसको अच्छे लगते हैं एव उनमे गहरी आसक्ति जम जाती है।

तब आत्मा आसक्ति की भावनाओं के साथ पाचो इन्द्रियो के विषयो का पोषण करने वाले पदार्थो को पसन्द करती है और आत्मिक तत्त्वो के प्रति द्वेष भाव से अरुचि बना लेती है। वह इन सासारिक पदार्थो की प्राप्ति को ही सम्पूर्ण उपलब्धि मानकर चलने लगती है। जेसे एक सुन्दर, सुगन्धित मन भावन पुष्प उसे मनोज्ञ लगता है, उसी प्रकार के लुभावने और सुहावने सभी पदार्थ उसे मनोज्ञ प्रतीत होते हैं। इन पदार्थो मे उसकी आसक्ति जितनी गहरी होती है, उतनी ही गहरी अरुचि उसकी आत्मिक तत्त्वों मे हो जाती है। तब बाह्य एव आन्तरिक

स्थितियो मे राग द्वेष की परिणति का चक्र तेजी से घूमने लगता है। स्थूल स्वार्थ बाहर द्वन्द और सघर्ष छेडते हैं तो आसक्ति भीतर की कलुषितता को उभारती रहती है।

यह राग द्वेष की परिणति अज्ञान को उभारती है और आत्मा को अपने ही तत्त्वो से – अपने ही गुणों से विलग कर देती है। यही परिणति कर्म बधन का बीज बनती है, जिसका वट वृक्ष बनता रहता है और आत्मा ससार मे भव भ्रमण करती रहती है।

आत्मिक गुणो के प्रति अरुचि और उदासीनता

इसी विषय पर आप कुछ बारीकी से चिन्तन करेगे तो आपको ज्ञात होगा कि इन पर-पदार्थो के साथ आपकी आत्मा की जो आसक्ति बनती है – उनको प्राप्त कर लेने की जो तिलमिलाहट पैदा होती है और उससे उत्पन्न वृत्ति जिसे आप राग एव द्वेष के रूप में देखते हैं, वह वृत्ति मूलत राग वृत्ति होती है। मूल में राग भाव पैदा होता है, द्वेष तो मात्र उसकी प्रतिक्रिया के रूप मे पैदा होता है। सूक्ष्म दृष्टि से सोचे तो जिसको आप प्रारभ मे द्वेष समझ लेते हैं, वह असल में द्वेष नहीं है। उसे राग के पोषक तत्त्व के रूप मे मानिये। राग के समानान्तर द्वेष को नहीं लिया जा सकता है – उसका स्वरूप थोडा सा भिन्न होता है। द्वेष की वृत्ति एक प्रकार से आत्मिक भावो तथा गुणो के प्रति उदासीनता की वृत्ति होती है।

वस्तुत द्वेष भाव का सही स्वरूप आजकल ध्यान मे कम लिया जाता है। द्वेष का यही मोटा अर्थ समझा जाता है कि किसी से जो लडाई झगडा हो जाय और उसके प्रति जो कटुता बने वह द्वेष है। समुच्चय रूप मे राग द्वेष की सज्ञा पारस्परिक वैमनस्य को ही दी जाती है। राग और द्वेष दोनों प्रकार की वृत्तियों का अलग-अलग रूप में अकन किया जाता है, लेकिन ज्ञानियो का कथन है कि दोनो प्रकार की वृत्तियों का समावेश राग के अतर्गत हो जाता है। द्वेष को मुख्य रूप से राग की प्रतिक्रिया के रूप मे देखना चाहिये। राग मिटता है तो द्वेष स्वत ही समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि राग द्वेष के विजेता को हमारे यहॉ वीतराग की सज्ञा दी जाती है। वीतद्वेषता को वीतरागता में अन्तर्निहित मान ली गई है।

द्वेष वृत्ति का सूक्ष्म अकन करना चाहेगे तो वह अरुचि और उदासीनता के रूप में बाहर दिखाई देगा। जिस पदार्थ या तत्त्व के प्रति राग हो जाता है तो उसके विरोधी के प्रति अरुचि और उदासीनता पैदा हो जाती है। यह आन्तरिक भाव होता है। यही भाव बाहर फूट कर स्थूल लडाई झगडों मे प्रकट होता है तो

उसको द्वेष कह दिया जाता है। मूलत आत्मा की वृत्ति जब सासारिक राग में उलझती है तो वह अपनी वृत्ति को अपने गुणो के प्रति उदासीन बना लेती है। यह जो भावों मे अरुचि और उदासीनता फैल जाती है, उससे आत्म विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

अरुचि का तात्पर्य यह है कि जिस तत्त्व या वस्तुस्वरूप या पदार्थ से अरुचि हो तो उसके प्रति उदासीनता का भाव आ जाता है, उसको समझने की इच्छा नहीं होती, उसके प्रति श्रद्धा नहीं उमडती, उसके लिये जिज्ञासा नही जागती एव उस पर कोई वार्ता चर्चा या उसके स्वरूप पर विश्लेषण करने की उसकी उत्कठा नही होती। परोक्ष रूप से यह सारी वृत्ति द्वेष भाव की परिचायक होती है। आत्मिक तत्त्वो के प्रति द्वेष उसी का होता है जो ससार के पदार्थों के प्रति आकर्षित बना रहता है। उनके प्रति राग की प्रतिक्रिया द्वेष के ही परोक्ष रूपों – अरुचि एव उदासीनता मे व्यक्त होती है। ऐसे व्यक्ति को कहे कि आत्मिक तत्त्वों का ज्ञान करो और आत्मिक गुणों को अपनाओ तो वह अश्रद्धा से उत्तर दे देगा कि हमको इन बातो मे कोई रुचि नहीं है।

अपना हृदय टटोले कि वहाँ राग कितना व अरुचि कितनी है ?

भले ही किसी और को न कहे, लेकिन ईमानदारी से आप मे से प्रत्येक अपने हृदय को अवश्य टटोलें कि वहाँ सासारिक पदार्थो के प्रति राग कितना और आत्मिक तत्त्वो के प्रति अरुचि कितनी है ?

आप धर्म के सिद्धान्तों की परिभाषाओं को समझे, उनका अपने अन्त करण मे विज्ञान करे तथा अपने जीवन के समग्र स्वरूप एव दृष्टिकोण को बदले – इस प्रकार का उद्‌बोधन कोई आपको देता है तो सहसा मुह से यह निकल जाता है कि अभी तो फुरसत नहीं है। कभी समय मिलेगा तो इस पर सोचेंगे। यह कथन भी सिर्फ उत्तर देने के लिये है। इस कथन से उपरोक्त आात्मिक कार्यो में अरुचि स्पष्ट दिखाई देती है। यद्यपि आप सुनते हैं, कोई विवाद नहीं करते, लेकिन जो कथन करते हैं, उससे आपकी अरुचि और उदासीनता तथा आपका उपेक्षा भाव ही प्रकट होता है। ध्यान रखें – यह अरुचि, उदासीनता और उपेक्षा ही आपकी द्वेष वृत्ति की परिचायिका है। यह भी ध्यान रखे कि यह इस रूप में जितना द्वेष है, उतना ही आपका सासारिक पदार्थो के लिये राग रहा हुआ है, क्योंकि द्वेष वृत्ति तो राग की छाया मात्र होती है।

जब मनुष्य के मन मे इस प्रकार से राग और द्वेष की परिणति चल रही हो और चाहे वह ऊपरी लोकलाज या और बात से सत समागम मे भी आता हो

अथवा धार्मिक क्रिया में भी प्रवृत्त होता हो, तब भी उसकी मन स्थिति की भूमिका शुद्ध नहीं बनती है और भूमिका शुद्ध नही है तो परमात्मा की सेवा का सयोग नहीं बैठता है। जो राग के अन्तर्गत है उस द्वेष का स्वरूप आपने स्थूल दृष्टि से समझ लिया, लेकिन द्वेष के वास्तविक स्वरूप को नही समझा है जो मन के अन्तराल में अरुचि, उदासीनता और उपेक्षा बन कर बैठा रहता है। प्रार्थना में यही वास्तविकता समझाई गई है कि इस प्रकार के द्वेष का परित्याग करें तथा अद्वेष की भूमिका बनावे तो परमात्मा की सेवा बन पडती है।

आप चाहें कि ससार के आकर्षण से भी प्रभावित रहे तथा आत्मिक गुणो को भी ग्रहण कर सके तो इस तरह दो घोडों पर सवारी मुमकिन नही है। उससे तो एक भी काम नही बनेगा। जितने ससार के आकर्षणो से दूर होंगे, उतनी ही आपके मन मे आत्मा, परमात्मा एव धर्म के प्रति रुचि का विकास होगा। इस कारण यह परीक्षा आवश्यक है कि आपके हृदय की एक तुला मे राग कितना है और दूसरी तुला मे आत्मिक तत्त्वो के प्रति अनुराग कितना है। कौनसा पलडा ज्यादा भारी है और दोनो के वजन मे फर्क कितना है ? यदि आपका विवेक जागता है तो इसी परीक्षा के आधार पर आप आत्माभिमुखी बन सकते हैं और राग वृत्ति को घटाते हुए आत्मिक तत्त्वों के प्रति अपनी अभिरुचि मे अपूर्व अभिवृद्धि कर सकते हैं।

राग घटेगा तो द्वेष मिटेगा और तभी आत्मिक रुचि जगेगी

परमात्मा के पवित्र स्वरूप तथा आत्मिक तत्त्वों व गुणो से जो अरुचि आज बनी हुई है, वह सासारिकता के प्रति राग की प्रतीक है और वह राग है, इसीलिए द्वेष वृत्ति है एव अरुचि है। इसलिये वह राग घटेगा तो द्वेष मिटेगा और वैसी अवस्था में ही जो आज अरुचि बनी हुई है, वह समाप्त होगी और उसके स्थान पर शुद्ध अभिरुचि जागृत बनेगी।

जब तक राग के घनत्व में अन्तर नहीं आता है, तब तक धर्म के प्रति ऐसी अरुचि बलवती बनी रहती है। ऐसा व्यक्ति बदले की भावना से दुनिया को डराने की कोशिश करता है और अपनी राग-पूर्ति मे बाधा नहीं पडने देता है। यह द्वेष जब तक है तब तक कोई भी आत्मिक गुण पल्लवित नहीं होता है, कारण उनके प्रति यह द्वेष अरुचि का भाव बनाये रखता है। द्वेष की इस सूक्ष्म अवस्था को समझ कर राग का परित्याग करने की चेष्टा करते रहेंगे तभी धर्म मे अभिरुचि जागृत बन सकेगी तथा श्रद्धा का विकास हो सकेगा। ऐसी अभिरुचि जब जागृत बनती है तो इसमें कोई अन्तर नहीं पडता कि वैसा व्यक्ति धनाढ्य है या दरिद्र – उसके

अपने आत्मिक गुणों का विकास आरभ हो जाता है। वह श्रद्धा, आत्मिक रुचि, तत्त्व जिज्ञासा एव परमात्म स्वरूप की प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा के साथ सेवा के साधनों की उपलब्धि करने के लिये तत्पर बन जाता है। ऐसा व्यक्ति ही महानता प्राप्त करता है और ससार मे सच्चे ज्ञान तथा वास्तविक वस्तु स्वरूप के प्रकाश को फैलाता है।

कभी-कभी ऐसा प्रसग भी उभर कर आता है कि सन्तों के समीप में आत्मा एव परमात्मा के सबध मे बातें होती हैं, तात्त्विक चर्चाएँ हाती हैं एव धर्म ध्यान में प्रवृत्ति भी प्रारभ होती है, लेकिन ससार में रहते हुए कभी आर्थिक दृष्टि से कमजोरी आ गई तो उसके परिणाम स्वरूप उसकी पवित्र रुचि एव श्रद्धा का भी लोप होने लगता है। वह यह सोच लेता है कि आत्मिक तत्त्वो में उसने काफी रुचि रखी – श्रद्धापूर्वक आचरण भी बनाया, फिर भी उसको सकट का सामना करना पड रहा है जबकि अनैतिक और उद्दड व्यक्ति धर्म से विमुख रह कर भी सम्पन्न एव प्रतिष्ठा वाले बने हुए हैं। ऐसा सोचने वाला व्यक्ति आत्म स्वरूप एव धर्म के महत्त्व को सही अर्थ मे नहीं समझा है – यह मानना चाहिये।

इसका कारण साफ है। आर्थिक दृष्टि से कमजोरी लाने वाला धर्म होता है अथवा अपना ही पहले बाधा हुआ कर्म ? कर्म और धर्म दोनों को धर्म समझ लेने से इस तरह अरुचि पैदा हो जाती है। पूर्व जन्म मे किसी को अन्तराय दी, किसी के व्यापार का बाधक बना अथवा किसी की आमदनी मे रोडे अटकाये या किसी के धन को नष्ट करने की कोशिश की तो ऐसे अन्तराय कर्म का बध हो गया। हस-हस कर तो कर्म बाधे होगे, लेकिन जब उन कर्मों का उदय आया और अन्तराय का फल आर्थिक कष्ट के रूप में मिला, तब वास्तव मे धर्म पर अभिरुचि बढनी चाहिये या उल्टे जो श्रद्धा थी उसी को समाप्त कर विपरीत मार्ग पर चल देना चाहिये – यह सोचने की बात है। धर्म पर जो रुचि और श्रद्धा थी, वह कर्मो को नष्ट करने वाली थी। अगर वह श्रद्धा चलती रहती तो वह कर्मों के उदय-फल को भी कमजोर बनाती रहती, लेकिन श्रद्धा का लोप कर देने से तो कर्म बधन की गुजाइश और ज्यादा बढ जाती है।

इसलिए किसी सकट के समय में भी आत्मा और धर्म पर अपनी अभिरुचि को न घटावें और न ही समाप्त करें। कर्मों के उदय की स्थिति आज नही तो कल पूरी हो जायगी, लेकिन एक बार गवाई गई रुचि और श्रद्धा फिर कब उत्पन्न हो सकेगी – इसका कुछ पता नहीं है। इसलिये धर्म-रुचि से विचलित न बने, श्रद्धा पर आरूढ रहें एव आत्म-विकास के मार्ग पर दृढता से चलें।

आत्मिक तत्त्वो के प्रति अभिरुचि के दो रुप

दार्शनिक क्षेत्र में हेमचन्द्राचार्य को कलिकाल सर्वज्ञ के नाम से पुकारते हैं। वे एक बार विहार करते हुए एक छोटे से गाव में रात्रि विश्राम के लिये ठहरे। उनके स्थान के पास ही एक कच्ची झौंपडी मे एक बहुत ही गरीब बुढिया रहती थी। वह उस बुढापे में भी बडी कठिनाई से कपडा बुनती थी और किसी तरह अपना गुजारा चलाती थी। उस बुढिया ने आचार्यश्री के दर्शन किये तो वह सच्ची आत्मिक अभिरुचि एव गहरी श्रद्धा के साथ हर्ष विभोर हो उठी। वह जितनी गरीब थी उतनी ही उसकी श्रद्धा समृद्ध थी। वह अपने कष्ट का कारण अपने ही पूर्व कर्मों को मानती थी, इसलिये उसकी आस्था की सुदृढता मे कोई कमी नही आई थी।

उस गरीब बुढिया ने अपनी झौंपडी को पावन करने की अभ्यर्थना आचार्य से की। सन्त तो गरीब अमीर में कोई भेद करते नहीं, वे बुढिया की झौंपडी मे पधारे। जितनी जरूरत थी, आहार लिया और चलने लगे तो बुढिया अपने हाथ से बुना हुआ एक मोटा वस्त्र लाई और आचार्य को ग्रहण करने का आग्रह करने लगी। उसका आग्रह अत्यत श्रद्धापूर्ण था किन्तु आचार्य को उसकी हृदयद्रावक दीनता देख कर वह वस्त्र लेने मे सकोच हुआ, तब वह वृद्धा पूछ बैठी – भगवन् क्या मेरा वस्त्र इसलिये नही ले रहे हैं कि धर्म के प्रति मेरी रुचि कम है और श्रद्धा कमजोर है ? आचार्य ने कहा – नहीं बहिन, तुम्हारी श्रद्धा तो चिन्तामणि रत्न की तरह चमक रही है। वृद्धा बोल उठी – फिर तो यह वस्त्र आप लीजिये ही – मेरा जीवन धन्य हो जायगा। आचार्य उस श्रद्धा के सामने झुक गये। वह वस्त्र उन्होंने ले लिया और उस मोटे व भौंडे वस्त्र को भी अपने ही कधे पर रख कर आगे चले।

आचार्य वहॉ से विहार करके राजा कुमारपाल की राजधानी पहुँचे। कुमारपाल जैन धर्म का सच्चा अनुयायी था तथा आत्मिक तत्त्वों के प्रति उसकी पर्याप्त अभिरुचि थी। वह नगर से बाहर अपने जन समुदाय के साथ आचार्य के सामने गया। उसने देखा कि उनके कधे पर मोटा और भौंडा कपडा पडा हुआ है तो उससे रहा नहीं गया। वह बोला – गुरुदेव, आपके कधे पर पडा यह वस्त्र तो ठीक नहीं लगता है। कुमारपाल जैसा सम्राट आपकी भक्ति में तत्पर हो, फिर ऐसा भौंडा कपडा आपने ग्रहण क्यो किया ? आचार्य ने कहा – सम्राट, क्या यह वस्त्र लज्जा नहीं ढक सकेगा ? सन्तो को लज्जा ही तो ढकनी है, ठीक क्या लगना है ? वैसा यह मोटा वस्त्र श्रद्धा के रत्नो से जडा हुआ है, इसीलिये मैंने इसे अपने कधे पर रखा है। तुम भी श्रद्धावान् हो सम्राट ! लेकिन तुम्हारी श्रद्धा के

साथ उपेक्षा भी जुडी हुई है। सम्राट भाव प्रवण होकर बोले – यह आपने क्या कहा, प्रभु, क्या मेरी आपके प्रति उपेक्षा है ? आचार्य ने समझाया – तुम्हारी अपने प्रति उपेक्षा है और इसी कारण नही देख पाते कि तुम्हारे राज्य में कितने गरीब लोग और कितनी निर्धन वृद्धाएँ अपने जीवन मे कष्टित और पीडित हैं ? जब आचार्य ने उसे मोटे वस्त्र का दान करने वाली गरीब बुढिया का अपूर्व श्रद्धा का बयान किया तो राजा का सिर भी अपूर्व श्रद्धा मे उस मोटे वस्त्र के सामने झुक गया।

आपके सामने यह रूपक इसलिये रखा है कि एक आत्माभिमुख व्यक्ति को उस स्थान पर तनिक भी उपेक्षा नहीं दिखानी चाहिये जहाँ उसके अपने आत्मीय गुण का प्रयोग करना हो। राजा का कर्त्तव्य था कि वह अपनी जनता के सुख दु:ख का ख्याल रखे। कुमारपाल का विचार बुरा नही था, लेकिन वह जो उपेक्षा थी, वह उसकी अरुचि का प्रतीक थी। इसीलिये आचार्य ने उसे ठीक बनाई और उसको कर्त्तव्य बोध दिया। सम्राट् ने द्वेष के स्वरूप को बारीकी से नहीं समझा था। यद्यपि उसकी रुचि आत्मिक तत्त्वों की तरफ थी, लेकिन उसकी गहराई नही थी – उपेक्षा भी उसके साथ जुडी हुई थी।

जिसकी आत्मिक तत्त्वो के प्रति रुचि गहरी होती है, वह अपने गुणों को भी प्राभाविक बनाता है। जहाँ किसी गरीब व दु:खी दर्दी को देखता है, अपनी सहानुभूति और सहयोग को वह बिखेर देता है।

आत्मा के प्रति अरुचि रखना धर्म से दूर रहना है।

आप लोगो को क्या कुछ कहूँ – आप तो सब समझते हैं। व्यापार धधे को करने वाले बडे बुद्धिमान होते हैं क्योंकि वे कानून मे भी गलियाँ निकालते रहते हैं। लेकिन मैं कहूगा कि धर्म मे गलियाँ नही निकालें और आत्मिक तत्त्वो तथा धर्म साधना के प्रति गहरी रुचि का निर्माण करे। क्योंकि आत्मा के प्रति अरुचि रखना है, वह धर्म से दूर रहना है। और इस दूर रहने का साफ अर्थ निकलता है कि आप का पाप प्रवृत्तियों मे गहरा राग बना हुआ है। ससार से राग है तो धर्म से द्वेष है याने कि धर्म के प्रति अरुचि, उदासीनता और उपेक्षा है।

इसलिये इस द्वेष को अगर आप हटाना चाहे तो आप समझदारो के लिये इशारा ही काफी है। आपको अधिक कहने की आवश्यकता नही है। आत्मा के प्रति उदासीन रहना, धर्म से दूर भागना, आत्मिक तत्त्वो एव गुणो को भी देखना, जन कल्याण एव प्राणी हित की उपेक्षा करना क्या आप जैसे सुविज्ञों के लिये उचित है ? आप राग और द्वेष के सैद्धान्तिक विश्लेषण को आधार बनाकर अति

गमीरतापूर्वक चिन्तन करें।

एक कर्म बध व दुख की दिशा है तो दूसरी दिशा धर्म साधना, आत्म विकास एव अपार आनन्द की है। मन मे बैठे हुए राग को कमजोर बनावे और समाप्त करें तो यह वास्तविकता समझ में आ सकती है। यह राग ही ससार मे दुख का मूल है और जो इस मूल को इसकी शाखा-प्रशाखाओ सहित नष्ट कर देते हैं, वे ही वीतराग देव कहलाते हैं।

नोखा
४ १० ७६

18

कुरीतियाँ त्यागें, सुरीतियाँ अपनावें !

सभव देव ते धुर
सेवो सवे रे

समव परमात्मा की उपासना के लिये सबसे पहले अपने अन्तकरण को विशुद्ध बनाना है। भय, द्वेष तथा खेद की अशुद्ध वृत्तियों से यह अन्तकरण अशुद्ध बना हुआ है तथा अन्तकरण की इस अशुद्धता से सारे जीवन की मलिनता बढ़ती जाती है। इन तीनो वृत्तियो को शुद्ध एव शुभ बनाये बिना परमात्मा की उपासना करना समीचीन नहीं है, कारण जब तक परिणामो की चचलता बनी रहती है तब तक परमात्मा की उपासना तो दूर की बात है, छोटी मोटी अध्यात्मिक साधना भी सफलतापूर्वक नही की जा सकती है। मन की स्थिरता के बिना व्यवहारिक विषयो में भी कोई प्रगति समव नही बनती है।

मन की स्थिरता के साथ अभय, अद्वेष व अखेद का विकास

इसी दृष्टि से कवि ने परिमाणो की चचलता अथवा मन की अस्थिरता को बहुत बडा भय माना है। दुनिया इतनी बारीकी में नहीं पहुॅचती है इसलिये उसको महान् भय की जानकारी नही है। यही कारण है कि वह महान् भय की भयानकता को समझ कर इससे मुक्त होने का प्रयास नहीं करती है। लेकिन ज्ञानीजन इस भय की सूक्ष्मता तक पहुॅचे हैं तथा उन्होंने मार्गदर्शन दिया है कि मन में विश्वासपूर्ण स्थिरता बनाने से सर्व भयों से मुक्ति मिल सकती है।

आत्मा की पवित्रता का, आत्मा की गुणशीलता का तथा परमात्म पद तक पहुॅच जाने की आत्मा की क्षमता का महत्त्व जब तक मनुष्य के मन में निष्ठापूर्वक

नहीं जम जाता है, तब तक परिणामों की चचलता को रोककर मन को स्थिर बनाने के कार्य में सफलता नही मिलती है। अद्वेष नहीं आता तो अभय भी नही आ सकता है। अभय नहीं तो अखेद कहॉ से आवे, क्योंकि भय का परिणाम ही खेद के रूप मे प्रकट होता है। इस तरह अभय, अद्वेष तथा अखेद – तीनो प्रवृत्तियों का समुचित विकास किया जाता है तो मन के स्थिरीकरण मे वाछित सफलता मिल सकती है।

सारी सृष्टि के विभिन्न रूपो मे दो ही तरह के तत्त्व दिखाई दे रहे हैं। एक जड तत्त्व तो दूसरा चैतन्य तत्त्व। लेकिन दोनो का स्वभाव भिन्न होता है। भिन्न स्वभाव के सहयोग से सृष्टि की विभिन्न रचनाए निर्मित होती हैं। विद्युत् शक्ति मे उसे दोनों तत्त्व–पोजीटिव तथा निगेटिव परस्पर मिलते हैं तभी विद्युत् शक्ति सजग बनती हैं एव उससे विविध कार्य सम्पन्न होते हैं। विद्युत् तो आधुनिक आविष्कार है, परन्तु प्राचीन दार्शनिक दृष्टि से ये पोजीटिव और निगेटिव तत्त्व हैं चेतन और जड। वेदान्त दर्शन इनको ब्रह्म और माया के नाम से पुकारता है। साख्य दर्शन इन्ही को पुरुष और प्रकृति कह कर सम्बोधित करता है। जो भी नाम दिये जाये – इन गहनतम तत्त्वो को समझने की क्षमता इस सृष्टि को आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों या एक न एक दिन पैदा करनी होगी।

इन तत्त्वो के ज्ञान से ही मन की महत्ता, उसकी गति एव शक्ति का ज्ञान हो सकेगा। यही ज्ञान गभीर चिन्तन मे उतर कर आन्तरिक शक्ति का एव आन्तरिक भाव धारा का दर्शन करायगा। तभी विदित होगा कि अभय, अद्वेष एव अखेद वृत्तियों के पूर्ण विकास से किस प्रकार मन को साधा जा सकता है एव आत्मा को परमात्मा पद दिलाया जा सकता है ?

चैतन्य स्वरूप के लिये पूर्ण रुचि एव पूर्ण विश्वास

भौतिक उपलब्धियो मे – दृश्य पदार्थो की प्राप्ति मे जीवन की जितनी शक्ति तथा ऊर्जा का व्यय किया जाता है, उसकी तुलना मे वे उपलब्धियॉ कोई महत्त्व नहीं रखती। जबकि उसी शक्ति एव ऊर्जा को चैतन्य स्वरूप को अभिव्यक्त करने मे लगावें तो विशिष्ट आध्यात्मिक उपलब्धियॉ प्राप्त हो सकती हैं। चैतन्य शक्ति का अपना ही प्रभाव होता है। ससार मे रहते हुए इन दोनों तत्त्वों का सही स्वरूप अपने सामने रखता है तथा दोनों का समन्वय इस रूप में करना है जिससे जीवन की इस बगिया को भव्य तरीके से सजाई जा सके। जड तत्त्व सदा एक अवस्था मे है लेकिन अमुक अवस्था तक वह उपादेय भी रहता है।

किसी नदी को पार करने के लिये नौका की आवश्यकता होती है। पार

करने वाला चैतन्य है और नौका जड। जब नदी के इस किनारे से प्रस्थान करते हैं तो नौका का आश्रय ग्रहण किया जाता है। नौका में बैठकर नदी के उस किनारे तक पहुँचा जाता है तब तक नौका उपादेय रहती है। परन्तु उस किनारे पर पहुँचने के उपरान्त वही नौका हेय बन जाती है। फिर उस नौका की आवश्यकता नही रहती है। वैसे ही चैतन्य तत्त्व जब तक ससार मे भ्रमण कर रहा है–भव चैतन्य तत्त्व जब तक ससार मे भ्रमण कर रहा है–भव सरिता मे घूम रहा है तब तक जड तत्त्व की नौका की जरूरत रहती है। किन्तु वह जब ससार के उस पार पहुँच जाता है और अपने शुद्ध स्वरूप मे ढल कर परमात्म पद का वरण कर लेता है तो वह नौका रूप जड का परित्याग कर लेता है।

आत्मा यह चैतन्य स्वरूप है – पर्याप्त शक्ति सम्पन्न है। इसकी सकल्प शक्ति में वह सामर्थ्य है कि जो असमव कहा जाता है, उसको भी समव बना कर दिखा दे। लेकिन शर्त यह है कि उस सकल्प शक्ति की पहिचान करें तथा उसको प्रयोग मे लावे। सकल्प शक्ति मानव की भीतरी शक्ति है। इस को दृढीभूत करने के लिये भय, द्वेष एव खेद वृत्तियो को हटाने की आवश्यकता है। दृढ सकल्प शक्ति के साथ आत्मा पर विश्वास आने से परिणामों की चचलता अपने आप हटेगी।

चैतन्य स्वरूप के लिए पूर्ण रुचि एव पूर्ण विश्वास का प्रमाण यह होगा कि सासारिक पदार्थो के प्रति रागात्मक भावना समाप्त कर दी गई है या उसे मन्द बनाई जा रही है। ऐसी अवस्था मे यह विचारणा बननी चाहिये कि मेरी आत्मा अजर अमर है, वह कभी नष्ट नहीं होगी। उसकी पयार्य बदल सकती है लेकिन उसका कभी समूल नाश नहीं होगा। चाहे कैसा ही प्रहार हो, आपत्ति या विपत्ति आवे – इस आत्मा का कुछ भी बिगडने वाला नही है। आत्मा के स्वरूप के प्रति जब ऐसी दृढ आस्था बनती है, तभी यह कहा जा सकता है कि अद्वेष वृत्ति का निर्माण हो रहा है। इस निर्माण के साथ अभय वृत्ति भी पुष्ट बनेगी। आत्मा के लिये दृढ विश्वास पैदा हो जाने के बाद वैसा व्यक्ति क्यो किसी से डरेगा, क्यों भयभीत बनेगा और क्यों उसके परिणाम चचल होगे ? इस विश्वास को जमाने के लिये ही कहा गया है कि तुमको अमूल्य आत्मिक तत्त्वो की ओर रुचि होनी चाहिये जो कि जीवन का सुधा रस है एव जीवन को अमर बनाने वाली औषधि है। इस रूचि का विकास निरन्तर होता रहना चाहिए।

जीवन निर्माण की कला
एक ही दिन मे नही आती ।

अभय, अद्वेष व अखेद वृत्तियो का विकास यकायक प्राप्त नहीं हो जाता है।

वह एक निरन्तर अभ्यास की प्रक्रिया होती है। प्रयास एक बार चालू भी कर दें और उसे नियमित नहीं बनावे तो अभ्यास परिपुष्ट नही होता है। प्राथमिक समय में तो धैर्य का अवलम्बन लिया जायगा, तभी कोई भी साधक इस प्रकार के प्रयास या अभ्यास मे टिक सकेगा।

किसी भी प्रकार का निर्माण हो, वह दो प्रकार के प्रयास से हो सकता है। एक तो अस्थायी, लेकिन शीघ्र सम्पादित किया जाने वाला निर्माण। इसका प्रयास जल्दी ही सफल बन जाता है। उदाहरण के तौर पर कोई घास–फूस की झौंपडी बनाना चाहे तो उसे एक दिन में ही खडी कर सकता है, लेकिन कोई वास्तुशिल्प की दृष्टि से सुन्दर और मजबूत बगला बनाना चाहे तो वैसा बगला एक दिन मे नहीं बनाया जा सकेगा। उसके लिये आवश्यक समय की अपेक्षा होगी। निर्माण का यह दूसरा प्रकार होता है जिसे स्थायी निर्माण कह सकते हैं।

वैसे ही जीवन निर्माण की कला एक ही दिन मे नहीं आती है। उसके लिये निरन्तर पुरुषार्थ बल को लगाते रहना पडेगा। पुरुषार्थ बल अजस्र गति से बहता रहेगा, तभी एक दिन जीवन निर्माण का मीठा फल प्राप्त हो सकेगा। जैसे किसी भव्य भवन को गिराना हो तो उसके निर्माण से बहुत ही कम समय मे उसे गिराया जा सकता है, उसी प्रकार जीवन को गिराने मे न अधिक श्रम चाहिये और न अधिक समय। जीवन का पतन थोडे समय मे क्या– कभी एक क्षण में भी हो सकता है। वर्षो तक एक मनुष्य कठिन परिश्रम करके अपनी प्रतिष्ठा बनाता है, परन्तु बताइये कि उस प्रतिष्ठा को नष्ट करने मे कितने समय की आवश्यकता होगी ? एक बगले को बनाना हो तो महीनों लगेंगे, लेकिन बुलडोजर से उसको चन्द मिनिटों मे गिरा सकते हैं। जीवन का पतन एक क्षण मे हो सकता है लेकिन एक क्षण मे जीवन का निर्माण नहीं किया जा सकता है। उसके लिये तो सतत अभ्यास करने की आवश्यकता होती है। वह उसके लिये खेद करता है तो चित्त मे अश्रद्धा आये बिना नहीं रहती।

असद् से सद् की ओर
खेद से अखेद की ओर

आज की स्थिति यह है कि मानव शुभ कार्य में लगता है, जन जीवन को सुधारने की कोशिश करता है और सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का अभियान छोडता है तो कुछ समय तक तो वह हाथ मे लिये हुए काम को करता रहता है और जब सफलता जल्दी नजर मे नहीं आती है तब हतोत्साहित होकर सब साधनो को मन्द करने के लिये तैयार हो जाता है। वह कहता है – मैंने इतना प्रयत्न किया, फिर भी सफलता नहीं मिली तो अब मैं और अधिक क्या कर

सकता हूँ। उसकी उस समय की मनोदशा खेदपूर्ण बन जाती है—वह अपने को थका हुआ महसूस करता है।

लेकिन कोई पूछे—भाई, तू कैसे थक गया ? और थक गया तो फिर तेरा सद् प्रवृत्तियो मे और सद् प्रयासों मे दृढ विश्वास कहाँ है ? जो असद् से सद् की ओर बिना उत्साह छोडे और बिना थकावट महसूस किये निरन्तर आगे बढता रहता है, वही खेद से अखेद की ओर अग्रसर बनता है। सद् प्रयत्नो के साथ सच्चे पुरुषार्थ और अथक धैर्य की जरूरत रहती है। यदि इनका सयोग मिल जाता है तो की जा रही क्रिया का सुफल अवश्य मिलेगा। "या या क्रिया फलवती"—अर्थात् जितना जितना शुभ प्रयास किया जायगा, वह फल देने वाला अवश्य बनेगा। यह एक सुनिश्चित सिद्धान्त है। जिस प्रकार का प्रयास होता है, वैसा ही फल मिलता है। अच्छा या बुरा फल प्रयास के अनुसार मिलता है।

असद् से सद् की ओर बढने का प्रयास या अभ्यास निरन्तर चलता रहना चाहिये और इस दिशा में अगर लगातार कोशिश की जाती रहे तो कोई कारण नहीं है कि वाछित सफलता प्राप्त न हो। कल्पना करे कि एक परिवार का मुखिया यह चाहता है कि उसके परिवार के सदस्य सच्चे, धर्मी और ईमानदार बनें—उनकी प्रतिष्ठा हो, सत्यनिष्ठा हो तथा जीवन निर्माण की कला मे उनकी मर्मज्ञता हो, लेकिन वर्तमान स्थिति यह है कि परिवार का कोई सदस्य झूठ बोलने वाला है, कोई चोरी करने वाला है तो कोई किसी दुर्व्यसन में ग्रस्त है। इस नीची स्थिति से परिवार को ऊपर उठाने का जो मुखिया एक बार अपना सद्प्रयास प्रारभ कर देता है और अथक रूप से प्रयास करता रहता है तो एक दिन उसको उसके लक्ष्य मे सफलता मिलकर ही रहती है। उसके इस दिशा में प्रयत्न कुछ समय तक तो चलें और सदस्य कुछ–कुछ सुधरे, तभी अगर वह मुखिया उतावला हो जाता है और अपना खेद प्रकट करने लगता है तो क्या वह अपने लक्ष्य मे सफल हो सकेगा ? वह निराश होकर काम ही हाथ से छोड दे तो खेद वृत्ति के उभर जाने से वह तो पीडित होगा ही, लेकिन अपने साथ वह पूरे परिवार के भविष्य को भी अधकार में धकेल देगा। खेद वृत्ति से जो दब जाय, वह व्यक्ति दुर्बल चित्त वाला कहा जायगा।

आज कोई समाज, राष्ट्र या सारे ससार के धरातल पर किसी सुधार का बीडा उठाता है और वह इस प्रकार खेदग्रस्त बन जाय तो क्या वह अपनी अधीरता से उस सुधार कार्य का ही सत्यानाश नहीं कर देगा ? किसी भी शुभ कार्य की सफलता की गारटी यह है कि उनमे अखेद प्रवृत्ति मजबूत बनी रहे। लम्बे काल से पैतृक उत्तराधिकार के रूप में जीवन मे जो अनुशासनहीनता के सस्कार छाये हुए हैं, उन सस्कारो को एकदम बदल देना कोई सहज वात नही हैं। यथायोग्य समय के प्रयास के बाद ही उन्हें बदल सकते हैं। असद् से सद् की

ओर बढने का मार्ग साधना का मार्ग होता है जिस पर निरन्तर चलना होता है, तब कहीं जाकर लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है।

कुरीतियो को त्यागने तथा सुरीतियो को अपनाने मे अखेद वृत्ति

कुरीतियॉ त्यागने तथा सुरीतियॉ अपनाने के काम में भी थकावट, निराशा या उत्साहहीनता नहीं पैदा होनी चाहिये। इन कुरीतियो के सस्कार भी बडे पुराने हैं और इन्हें अथक प्रयास के बिना लोगों से छुडवाना सभव नहीं है। इस दृष्टि से इसके लिये अखेद वृत्ति की परम आवश्यकता है।

कुरीतियों के विकृत सस्कारों को दूर करने मे एक बाधा और है। एक ओर उन सस्कारो को बदलने का निरन्तर प्रयास किया जाता है, लेकिन दूसरी ओर नये कुसस्कार और आते रहते हैं। भट्टी पर कढाई चढी हुई हो, नीचे लकडियों की आग सुलगती रहने से कढाई लाल सूर्ख बनी हुई हो अब उस कढाई को ठडी होने देना तब और भी कठिन हो जाता है। जब भट्टी के नीचे निरन्तर नई लकडियॉ डाली जाती रहे। कढाई को ठडी करने के लिये ऊपर पानी की बूदे डाली जाती है लेकिन कार्य जल्दी बनता नहीं है। इसको जल्दी बनाने के लिये पहले तो नई लकडी नहीं डाली जावे तथा दूसरे अन्दर जलती हुई लकडियो को भी धीरे-धीरे बाहर निकालते रहें तब जाकर कढाई धीरे-धीरे ठडी हो सकेगी। पहले पहल तो डाला हुआ पानी भी निरर्थक जायगा और निराशा भी पैदा होगी। यही प्रक्रिया कुरीतियों के विकृत सस्कारों को शुद्ध बनाने मे की जाती है। लेकिन इस लम्बी प्रक्रिया के प्रारभ में निराशा नहीं आनी चाहिये और सारी प्रक्रिया मे भी खेद उत्पन्न नहीं होना चाहिये।

समझिये कि आप अपने परिवार मे प्रचलित कुरीतियो को समाप्त कर सदस्यों को सुरीतियॉ अपनाने के लिये प्रभावित बनाना चाहते हैं तो पहले यह जानने की कोशिश करे कि कुरीतियों के ससकार उनको कहॉ ये मिल रहे हैं ? वे इन सस्कारों को पडौसियो से खींच रहे हैं या सामाजिक अथवा राष्ट्रीय वातावरण से ग्रहण कर रहे हैं ? उन सस्कारों के स्त्रोत से आप अपने परिवार के सदस्यों को अलग कर दीजिये, उन सस्कारो को उनके मस्तिष्क मे जाने मत दीजिये। फिर पहले के ससकारो को धीरे-धीरे बदल कर उनमें सुरीतियो के ससकार बनाते रहिये – कालान्तर मे वे उन कुसस्कारो का सर्वथा त्याग कर देंगे। इस प्रक्रिया से आपके प्रयत्नों में भी खेद उत्पन्न नहीं होगा तो उनके प्रयत्न भी अखेदपूर्ण बने रहेंगे। थकान आना ही खेद है और खेद से चित्त हताश और मलिन बनता है।

इसको दूसरी दृष्टि से भी सोचना चाहिये कि अनादि काल से मैं जिन परिवारजनों के बीच परिभ्रमण कर रहा हूँ – उनसे निरन्तर कुरीतियो के सस्कार ग्रहण करता चला आ रहा हूँ तो उन कुसस्कारों को ग्रहण करने से क्यो नही थकता हूँ ? पाप की वृत्तियों और प्रवृत्तियो से थकान क्यो नही आती है ? पाप कार्य तो रुचि के साथ करे, लेकिन धर्म कार्य करने लगे तो रुचि भी नहीं बने और खेद भी उत्पन्न होवे – ऐसा क्यो है ? यह जो कहा जाता है कि आप आज पाप कर्मो मे राग बनाये हुए हैं तो उसका अर्थ केवल आज नहीं है बल्कि अनादिकाल हैं क्योकि अनादिकाल से आत्मा इसी राग के कारण भव चक्र मे घूम रही है। अत पहले उस राग को छोडना होगा तभी धर्म की वृत्तियो एव प्रवृत्तियो मे रुचि बनेगी और रुचि बनेगी तो खेद भी नहीं होगा। कितना आश्चर्य है कि विषय कषायो के सेवन मे तो खेद नहीं होता, परन्तु धार्मिक कार्यो से शीघ्र ही खेद उत्पन्न हो जाता है ? इसलिये एक ओर कुरीतियों के ससकारो का त्याग करिये तथा दूसरी ओर सुरीतियों के सस्कारो को ग्रहण करते जाइये ताकि धीरे-धीरे जीवन के सम्पूर्ण सस्कार सुन्दर बन कर सर्वत्र सुरीतियों को प्रोत्साहित करने लगे।

सामाजिक कुसस्कारो को मिटाने मे शीघ्र बढे !

जब तक व्यक्ति अभय, अद्वेष एव अखेद वृत्तियो का समुचित विकास नही कर लेता है, तब तक वह परमात्मा की सेवा की भूमिका को परिपुष्ट नहीं बना सकता है। उसके खेद जनक रूप के साथ अन्य कई विकृत रूप चलते रहतें हैं। इन विकृत रूपो का ऐसा बुरा असर बना हुआ है कि एक छोटी सी कुरीति को त्यागने को कहा जाय तो उसे छोडने में भी कठिनाई की महसूसगिरी होती है।

सामाजिक कुरीतियो के रूप मे चल रहे अपने कुसस्कारो को तो जितना जल्दी हो सके, सामूहिक प्रयत्न के माध्यम से भी त्यागने का अभियान छोडा जाना चाहिये। ये सामाजिक कुसस्कार इतने प्रभावशाली बन जाते हैं कि कोई-कोई व्यक्ति उनको हटाने का निश्चय भी कर लें तब भी सामाजिक अप्रतिष्ठा के भय से वे उस निश्चय को अमल मे लाने से हिचकते हैं। यह और भी दु खद वस्तुस्थिति है कि सजाज ने इन सारी कुरीतियो को प्रतिष्ठा की आधार बना लिया है। कुसस्कारो की अधिकता से सामाजिक प्रतिष्ठा मिले – यह कितनी लज्जाजनक स्थिति है ?

एक छोटी सी बुरी आदत की चर्चा पहले की जाय। यह आदत है भोज आदि मे झूठन छोडने की आदत। जहाँ कहीं जीमने के लिये जाते हैं, वहाँ झूठन छोडने की बुरी आदत आप में है या नहीं ? क्या इस छोटी सी बुरी आदत को

भी आप नहीं छोड सकते हैं ? यह निश्चित है कि घर मे तो झूठन छोडने की आपकी आदत नहीं होगी। केवल सामाजिक क्षेत्र में अथवा अन्य कही पर जीमने जाते हैं, तभी वैसा करते होगे। जीमने मे कई लोग होते हैं और सोचे कि एक-एक जना कितना-कितना झूठा छोडता है और उससे कुल मिलाकर अन्न की कितनी बरबादी होती है ? सच पूछो तो यह एक राष्ट्रीय अपराध है।

इसके लिये छोटे से विवेक की जरूरत है कि जितना चाहिये उस खाद्यान्न को थोडी-थोडी मात्रा में लीजिये और परोसने की व्यवस्था पूरी रखिये। परोसकारी पूरी नही होने से या तृष्णावश थाली में ज्यादा मात्रा में ली जाती है और फिर उसे नहीं खा पाने के कारण झूठन मे छोड देते हैं। इस बुरी आदत के कारण जहॉ जीमने जाते हैं उस व्यक्ति का नुकसान तो है ही किन्तु अपने जीवन मे कुसस्कार आते हैं और वे समाज तथा राष्ट्र के क्षेत्र मे फैलते हैं – यह कितना बडा नुकसान है ? छोटी सी बात है लेकिन कुसस्कार कितना ही छोटा क्यो न हो–उसको दूर करने की चेष्टा मे कमी नहीं रखी जानी चाहिये।

इतना सा सकल्प आप ले कि कही भी जीमने जावे, वहॉ कभी झूठन नहीं छोडेंगे (कई लोग खडे होते हैं।) विवाह शादी हो, सगे सम्बन्धियो के यहॉ जीमने जाते हैं तो साधर्मी भाई बनकर ही जाते हैं, फिर वहॉ भोजन करते समय झूठा डालना नहीं–जबरदस्ती परोसना नहीं। इन दोनों बातों का बराबर ख्याल रखें।

इसलिये भी और ज्यादा ख्याल रखें कि इसे राष्ट्र के अन्न की बरबादी होती है। अन्न की बरबादी से अन्न की कमी होती है और जब अन्न की कमी सरकार को दिखाई देती है तो वह मुर्गीपालन केन्द्रो, मतस्य पालन केन्द्रों और कत्लखानो को खोलने की तरफ आगे बढती है। अब आप अहिसा धर्म की भूमिका पर खडे होकर सोचिये कि एक छोटी सी बुरी आदत का कितना बडा कुपरिणाम सामने आता है ?

सुरीतियो को अपनाने मे दीर्घदृष्टि रखी जानी चाहिये

मैं एक बार पहाडी क्षेत्र में विहार कर रहा था तो आदिवासियो मे काम करने वाले एक राजनैतिक नेता मेरे पास आये और कहने लगे–महाराज, भारतीय जनता का निर्वाह अब अहिसक तरीको से चलना मुश्किल है। अन्न की कमी और ऊपर से बरबादी होती है फिर मछली, मुर्गी, मास आदि खाने मे नहीं लिये जायेगे तो सबका निर्वाह कैसे होगा ? मैंने उनकी बात सुनी, वह हकीकत मे गभीर थी। मैंने सहमति प्रकट की कि अन्न की तनिक भी बरबादी नहीं होनी चाहिये तथा सारे देश में ६० करोड के लगभग की आबादी है और इस आवादी में से ३०-३५

करोड बडी उम्र के लोगो की आबादी होगी। यह आबादी अगर सप्ताह में एक या दो उपवास रखने की आदत बनावे तो अन्न की समस्या का अहिसक समाधान निकल सकता है। वास्तव में सुरीतियो को अपनाने में दीर्घ दृष्टि रखी जानी चाहिये।

यह तो एक छोटी सी सामाजिक कुरीति की चर्चा की गई है। इस तरह की अनेकानेक छोटी बडी कुरीतियाँ प्रचलित हो रही हैं, झूठे शान बताने के लिये झूठे प्रदर्शन किये जाते हैं और धन के आधार पर सामाजिक प्रतिष्ठा के मानदड कायम किये और माने जाते हैं – यह सब खेदजनक स्थिति है। इस विकृत व्यवस्था से खेद उत्पन्न होना चाहिये लेकिन स्थिति ऐसी विषम है कि दुर्व्यवस्था से तो खेद नही उपजता, लेकिन सुव्यवस्था स्थापित करने के प्रयासो से खेद पैदा हो जाता है और वे प्रयास छोड दिये जाते हैं।

सामाजिक सुधार का काम बडा टेढा काम होता है। इसको एक अभियान के रूप में चलाइये और लोगो को प्रेरणा दीजिये कि वे कुरीतियो को त्यागने के लिये तैयार के लिये तैयार बने तथा दीर्घदृष्टि रखकर सुरीतियों को अपनाने के लिये आगे बढे। सामाजिक क्षेत्र में शुद्धि आवेगी तो उसका सुप्रभाव एक ओर राष्ट्र तथा विश्व मे पडेगा तो दूसरी ओर व्यक्ति को अपनी आन्तरिक शुद्धि करने मे प्रोत्साहन प्राप्त होगा। इसलिये कुरीतियो को त्यागने तथा सुरीतियो को अपनाने के शुभ कार्य में डरें नही, अरुचि नहीं रखे तथा खेद नही लावें। अभय, अद्वेष एव अखेद वृत्तियो का निर्माण कर लेगे तो समग्र जीवन का निर्माण भी सम्पन्न हो जायगा।

नोखा
५ १० ७६